प्रस्तावना

मनुष्य और अन्य प्राणियोंमे जो अनेक भेद हैं उनमें बुद्धिक भेद महत्वपूर्ण है। मनुष्यके बहुतसे कार्य बुद्धिमूलक होते हैं इसी बुद्धिके कारण वह कई बातें सोचा करता है। उन्नति औः अवनति, लोक और परलोक, धर्म और अधर्म, नीति औः अनीतिकी कल्पनायें इसी बुद्धिने पैदा की हैं। वह इस लोककी बातोंसे संतुष्ट नहीं होता, परलोककी बातें भी वह सोचता है। धर्म क्या है अधर्म क्या है, नीति क्या है अनीति क्या है, उन्नति क्या है अवनति क्या है, इत्यादि बातोंके भी पीछे वह पड़ा रहता है। बुद्धि और तन्मूलक भेदोंके सिवा मनुष्य और अन्य प्राणियों-में एक भेद और है। केवल शारीरिक पालन-पोषण और रक्षणके लिए वह अपने जननी-जनक पर अन्य प्राणियोंसे बहुत अधिक अवलम्बित है। परिणाम यह होता है कि अनेक प्रकारकी सामाजिक व्यवस्थायें उसे निर्माण करनी पड़ती हैं। बिना समाज-के उसका पालन-पोषण और रक्षण नहीं हो सकता। और फिर जब उस सामाजिकतापर बुद्धिका प्रभाव पड़ता है, तब मनुष्य अपनी अनेक प्रकारकी उन्नतिकी बाते सोचने लगता है। और शीघ्र ही वह 'यह संसार क्या है, हम कौन हैं, हमें यहा क्या करना है, मानव जीवनका क्या उद्देश हो सकता है' इत्यादि प्रश्नोंको सोचने लगता है। मनुष्य-जीवनके उद्देशका विचार उत्पन्न होनेपर उसे

मानना पड़ता है कि भौतिक उन्नति ही मनुष्यकी परमोन्नति नहीं है, उसकी परमोन्नति मानसिक है और उसका स्वरूप नैतिक या धार्मिक है। भौतिक वस्तुओंकी आवश्यकताओंसे वह मुक्त नहीं हो सकता, उसकी आवश्यकतासे वह अपना पिण्ड छुड़ा नहीं सकता। तथापि वह यह जरूर चाहता है कि मेरी उन्नतिकी सीमा इन्हींमे न समाप्त हो, इनसे मैं आगे बढ़ूँ। फलतः भौतिक उन्नति साधन बन जाती है, साध्य होती है नैतिक या धार्मिक उन्नति और यह प्रश्न तो विना समाजके सिद्ध हो ही नहीं सकता। जब पालन पोषण और रक्षणका प्रश्न समाजके विना हल हो नहीं सकता, तब उन्नतिका प्रश्न समाजके विना कैसे हल हो सकता है ? इतना ही नहीं, समाजके विना किसी प्रकारकी उन्नतिका विचार उसके मनमे नहीं उत्पन्न हो सकता। उन्नतिकी आवश्यकता और उसके स्वरूपका ज्ञान वह समाजसे ही प्राप्त करता है। इसलिए समय समयपर उसे सोचना पड़ता है कि किस प्रकारकी सामाजिक व्यवस्थासे मेरी परमोन्नति हो सकेगी। ऐसे सोचनेवाले पुरुष सब देशोंमे हो गये हैं। हमने अपनी इस पुस्तकमे ग्रीस यानी यूनानके प्रसिद्ध दार्शनिक अफलातूनके "रिपब्लिक" "पोलिटिकस" तथा "लॉज" नामक ग्रंथोंमे वर्णित आदर्श सामाजिक व्यवस्थाओंका हिन्दी ससारको परिचय करानेका प्रयत्न किया है।

जो कोई हमारी इस पुस्तकको ध्यान पूर्वक पढ़ेगा उसे यह अवश्य देख पड़ेगा कि उसके अनेक तत्वोंका, विशेषकर "रिपब्लिक" नामक ग्रन्थमे बताई आदर्श सामाजिक व्यवस्थाके तत्त्वोंका, समावेश हम हिन्दुओंकी सामाजिक व्यवस्थामे अवश्य हुआ

था। यह बात हमने यथा स्थान पर तुलना करके कुछ स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है। यदि "रिपब्लिक" और "लॉज" की सामाजिक व्यवस्थाओंका एकत्र विचार किया जाय, और फिर यदि ग्रीसकी प्राचीन मानवी और भौगोलिक परिस्थितिपर ध्यान दिया जाय, तो हमे यह अच्छी तरह जँच जावेगा कि हमारे ऋषियों, मुनियों और स्मृतिकारोंने जिस व्यवस्थाका विकास और प्रस्थापन किया था, वह बहुत ही बुद्धिमूलक थी। उसमें मानव-जीवनके अन्तिम उद्देशके विकासके लिए अवसर था, उसके द्वारा मानव-जीवन अपने अन्तिम उद्देशकी ओर धीरे धीरे अग्रसर हो सकता था और प्रत्यक्ष जीवनकी समस्त व्यक्तिगत और सामाजिक आवश्यकताओंकी पूर्ति उचित और शान्तिमूलक उपायोसे हो सकती थी। आज लोग उस सामाजिक व्यवस्थापर बेतरह बिगड़ उठे हैं। कही कोई हिन्दू समाजमें स्त्रियोंकी दशा देखकर उन पूज्य पुरखाओंको गालियोंकी बौछारोसे स्मरण करते हैं, तो कहीं स्पृश्य अस्पृश्य, उच्च और नीच, वर्गोंके भेदके कारण उन्हे मनमाने कोसा करते हैं। परन्तु यह कहाँतक उचित है इस बातका विचार बहुत थोड़े करते हैं। स्थान और काल दोनोंके अनुसार परिस्थिति बदलती रहती है। तथापि यदि हमने अपने जीवनके उद्देशोंको भली भाँति सोच समझ लिया है, तो यह भी सोच सकते हैं कि अमुक परिस्थितिमे किस प्रकारकी सामाजिक योजनासे उन उद्देशोंकी पूर्ति होगी? पाश्चात्योंके संसर्गसे हम अपनी रीतियोंको एकदम हानिकारक, कष्टकारक, बेकाम, अन्यायमूलक आदि सब कुछ कहने लगे। पर हमने कभी यह भी सोचनेका कष्ट उठाया कि हमारे उद्देशोंकी पूर्ति करनेवाली कौनसी सामाजिक

व्यवस्था हो सकती है ? जब कोई कुरता या कोट बनाना होता है, तो दर्जी प्रत्येक अंगकी लंबाई चौड़ाई और मुटाईका तो विचार करता ही है, पर सारे शरीरकी बनावटका और अंग-प्रत्यंगके सम्बन्धोंका भी विचार उसे करना होता है। यदि वह ऐसा न करे तो अच्छा और उपयोगी वस्त्र न तैयार होगा। यही बात सामाजिक व्यवस्थाकी है। एक बार जो व्यवस्थारूपी वस्त्र बन चुका है, उसे तो हम आज निकाल कर फेंक नहीं दे सकते। यह कार्य किसी भी मानवी शक्तिके बाहर है। किसी भी देशमे और किसी कालमे मनुष्य ऐसा करनेमे समर्थ नही हो सकता। हाँ, वह उसमे सुधाररूपी जोड़-तोड़ कर सकता है। इन जोड-तोडोको करते समय उस वस्त्रके मूल उद्देशोको न भूलना चाहिये। उन्हे स्मरणमे रखकर ही सुधारके कार्यमे लगना चाहिये। हिन्दू समाजके सुधारका जो काम अब तक हुआ है, वह बहुधा उद्देशहीन रहा है। इतना ही नही किन्तु उसके उद्देशोको जाननेका बहुत कम प्रयत्न किया गया है। इसी कारण समाजमे अनेक सुधारक और सुधारविरोधक दल पैदा हो गये हैं। यदि हम अपनी सामाजिक व्यवस्थाका तात्विक विवेचन करने लगें, तो हमारे अनेक कलह शान्त हो जावेंगे। हम यह तो नही कह सकते कि समस्त हिन्दू समाजको ये तत्व सिखलाये जा सकते है और वे उन्हे समझ सकते हैं। तथापि यदि हमारे समाज-सुधारक अपने कार्योंके उद्देशोको अच्छी तरह समझ लेंगे तो वे सर्वसाधारणको भी उन्हे समझाकर बता सकेंगे और इस प्रकार रुकी हुई प्रगतिकी हमारी गाड़ी आगे बढ़ सकेगी। यदि हमने सामाजिक व्यवस्थाके तत्वोंपर विचार न किया, तो

हममें अनेक कलह तो उत्पन्न होंगे ही, पर यह भी होनेकी संभावना है कि हमारी गाड़ी उद्देशहीन मार्गसे जानेके कारण किसी दिन किसी भयानक खड्डमे गिरकर इतनी चकनाचूर हो जावेगी कि फिर उसे हम किसी प्रकार न सुधार सकेंगे। इससे यह स्पष्ट है कि समय समयपर हमे समष्टिरूपसे अपने कार्योंपर विचार करना चाहिये। लेखक आशा करता है कि अफलातूनके ग्रन्थोंका जो विवेचन इस पुस्तकमे किया गया है, उससे इस विचार-कार्यमें हिन्दूसमाजको कुछ सहायता मिलेगी। लेखकका विचार है कि जीवनके मूल उद्देशोकी दृष्टिसे हिन्दुओंकी सामाजिक व्यवस्थाकी मीमांसा की जाय और उसमे यह दिखलाया जाय कि उसमें कहाँ कहाँ किस प्रकारके सुधारोकी आवश्यकता है। परन्तु लेखक यह कह नहीं सकता कि यह कार्य उससे हो सकेगा या नहीं। इसके लिये संपत्ति, समय और श्रमकी बहुत आवश्यकता है और इन तीनोका इस लेखकके पास अभाव है। इस पुस्तकको पढ़कर कदाचित् कोई समानधर्मा पुरुष यह कार्य करनेको अग्रसर हो। यदि इस पुस्तकको पढ़नेसे दो चार भी पुरुषोंको हिन्दुओंकी सामाजिक व्यवस्थापर विचार करनेको वाध्य होना पड़ा, तो लेखक अपना श्रम सफल समझेगा। कार्योंके पहले विचार उत्पन्न होते हैं। और इस लेखकका पूर्ण विश्वास है कि एक बार यदि विचार उत्पन्न हुए तो उनकी गतिको रोकनेकी शक्ति किसीमें नहीं है। इसलिए वह समाज-धुरंधरोको अपनी ओर खींचे विना न रहेगी। इस विचार-कार्यमें कुछ सहायता मिले इसलिए इस लेखकने हिन्दुओंकी सामाजिक व्यवस्थापर एक परिशिष्टात्मक लेख इस

पुस्तकमे जोड़ दिया है। आशा है इस पुस्तकके पाठकोको उससे कुछ लाभ अवश्य होगा। तात्विक विवेचन जितना अधिक होगा उतना ही हमें लाभ होगा। इसी आशासे यह पुस्तक प्रकाशित की जाती है।

इस पुस्तकके लिखनेमें Ernest Barker कृत "Greek Political Theory" नामक पुस्तकसे विशेष सहायता मिली है। जिसे अफलातूनके "रिपब्लिक" नामक ग्रंथका विशेष अध्ययन करना हो, वह Jewett कृत मूल पुस्तकके अनुवादको तथा Nettleship के Lectures on Republic को पढ़े। सामान्य लोगोंके लिये Ernest Barker की उपरिलिखित पुस्तक यथेष्ट होगी। हमें तो इसी पुस्तकसे विशेष सहायता मिली है, पर विवेचन में हमने यथेष्ट स्वतंत्रतासे काम लिया है।

'रिपब्लिक' का विवेचन तथा 'हिन्दुओंकी सामाजिक व्यवस्था नामक लेख कुछ थोड़ेसे हेरफेरके साथ पहले "सरस्वती" नामक मासिक पत्रिकामे छपे थे। शेष भाग पहले पहल ही छप रहे हैं।

लेखक।

विषय-सूची ।

शुद्धि-पत्र ।

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पक्ति
मानसिक	किन्तु मानसिक	३५	२०
उन्नतिका	उन्नतिके सम्बन्धका	,,	२४
प्रौढावस्था	प्रौढावस्था	४०	१६
केलव	केवल	४१	१२
ननी	बनी	४३	२४
उनकी आत्मिक	उनकी निजी आत्मिक	४८	२३
,,	,,	,,	२४
लिङ्ग विपय	लिङ्ग विषय	४९	१
समाजको	समाजका	५३	२१
समाजका	समाजकी	,,	२२
तेज वासना	तेज और वासना	५४	५
सहस्र	परन्तु सहस्र	५५	८
एक गुण-प्रधान	एक-गुण-प्रधान	५६	११
दृष्टिओं	दृष्टियो	,,	२०
इस प्रकार	इस पर	,,	२६
पड़ता	पडना	५७	९
निश्चित मत	यह निश्चित मत	५९	१५
रहीं और	रहीं। इस कारण	,,	१९

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
प्रवृत्ति	प्रवृत्ति मार्ग	५९	२१
क्या करना,	क्या करना चाहिये	,,	२६
गीता रहस्य	'गीता रहस्य'	६०	१
हों	होंगे	६०	१२
तदनुपगिक	तदानुपगिक	,,	१३
नहीं दी	नहीं रखी	६५	३४
पोलिटिक्स	पोलिटिकस	७३	१५,१८
,,	,,	७६	२
,,	,,	७७	१५
अभी तो कि	कि अभी तो	८२	११
कि वातें	कि वे वातें	१०८	७
दीवालमें छोटी छोटी	दीवारमें छोटे छोटे	,,	१५,१६
उसमेंसे	उनमेंसे	११७	१
पहले	पहला	१६४	११
है	हैं	,,	२३
मे समान	का समान	१६८	१०
पर वह	पर मनुष्य उससे	१७४	१६
बना रक्खे	बनाये रक्खे	१७६	१७
गार्हस्थ	गार्हस्थ्य	१८९	६

पहला भाग ।

अफलातूनकी जीवनी तथा उसके ग्रंथोंकी विचार-पद्धति ।

पहला अध्याय।

अफलातूनकी जीवनी।

अफलातूनका जन्म आथेन्सके एक प्राचीन कुलीन घरानेमें ईसाके पूर्व ४२८ वर्ष (वि० पू० ३७१) के लगभग हुआ था। उसके मातृपक्ष और पितृपक्ष दोनों बहुत कालसे उच्च गिने जाते थे और उन्होंने आथेन्सके शासनकार्यमें यथेष्ट भाग लिया था। अफलातूनके कुलके राजनीतिक विचार अनुदारकी अपेक्षा उदार ही विशेष रूपसे थे। सोलोन नामक प्रसिद्ध व्यवस्थापक अर्थात् कानून बनानेवालेसे उसके कुलका सम्बन्ध था और उस कुलको इस सम्बन्धका उचित अभिमान था। यदि उसके विचारोंपर किसी सम्बन्धका प्रभाव पड़ा होगा तो संभवतः इसी सम्बन्धका पड़ा होगा।

'शिष्य' शब्दका जो वास्तविक अर्थ है उस अर्थमें अफलातून सुकरातका शिष्य नहीं था। परन्तु बहुत प्रारंभिक अवस्थासे ही सुकरात-पंथके लोगोंसे उसका सम्बन्ध था। पहिले तो कदाचित् उसने प्रत्यक्ष रूपसे राजनीतिके अखाड़ेमें उतर कर कुछ कर दिखानेका विचार किया था, परन्तु जब स्वतन्त्र विचारोंके प्रतिपादनके कारण सुकरात जैसे सत्पुरुषको आथेन्सके शासकोंने मृत्युदण्ड दिया, तब उसके सारे मूल विचार बदल गये। अब उसने दर्शनशास्त्रके पठन-पाठनमें अपना जीवन व्यतीत करनेका विचार किया। ईसाके पूर्व ३८७ (वि० पू० ३३०) वर्ष तक वह अपने प्रारंभिक ग्रन्थ रचनेमें लगा था। इसी कालमें

'अपोलोजी', 'क्रिटो', 'प्रोटेगोरस', और कदाचित् 'रिपब्लिक' के कुछ प्रारंभिक भागोंकी रचना हुई। यह काम उसकी तीससे चालीस वर्षकी अवस्थाका काम है। जान पड़ता है कि इस काममें उसने अपने विचारोंके विकासके लिये यथेष्ट भ्रमण भी किया। ऐसा कहते हैं कि वह मिश्रदेशको गया था। 'रिपब्लिक'में जिस श्रमविभागके तत्वका प्रतिपादन है, उसकी कल्पना कदाचित् मिश्रसे ही उसे सूझी हो, क्योंकि उस देशमें लोगोंके कार्यमूलक श्रेणीविभाग थे। ईसापूर्व ३८७ वर्षमें वह कदाचित् इटली और उसके दक्षिणके 'सिसली' द्वीपको गया था। 'सिसली' द्वीपमें पायथोगोरस नामक दार्शनिकके विचारोंका यथेष्ट प्रभाव था। यहीपर सायरेक्यूसके निरंकुश शासक डायोनीशियससे उसकी भेंट हुई थी। अफलातूनने उसे अपने 'रिपब्लिक' नामक ग्रन्थके विचारोंकी शिक्षा-दीक्षा देनेका प्रयत्न किया था। उसने डायोनीशियसकी निरंकुश शासन-प्रणालीका खण्डन तथा उसके अन्यायका विरोध किया। इस कारण उक्त निरंकुश शासक अफलातूनसे बहुत अप्रसन्न हुआ और उसने उसे स्पार्टाके राजदूतके हाथ सौंप दिया। इस राजदूतने उसे गुलामके बतौर बेच डाला। उचित द्रव्य देनेपर इस गुलामीसे उसकी मुक्ति हुई और वह आथेन्सको लौट गया। यहाँ आकर उसने एक विद्यापीठ खोला। उसकी आयुके शेष चालीस वर्ष इसी संस्थाके सञ्चालनमें व्यतीत हुए।

इस प्रकार जो अफलातून ईसापूर्व ३८६ (वि० पू० ३२६) वर्षतक केवल सुकरातके विचारोंका समर्थक और विवेचक तथा एक लेखक था, वह अब एक दार्शनिक तथा एक दार्शनिक विद्यापीठका संचालक होगया। इस समयतक आथेन्स मानो ग्रीसका विश्वविद्यालय ही होगया था। इसके पूर्वकी

शताब्दीका उसका साम्राज्य नष्ट होगया था, पर उसने जो उस शताब्दीमें नहीं पाया था वह सब—यानी सारे ग्रीसके व्यापार और विद्याके केन्द्रस्थानका मान—अब पाया । अफलातून तथा आयसोक्रेटीजके विद्यापीठमें सारे ग्रीसके विद्यार्थी आकर शिक्षा प्राप्त करते थे । अफलातूनके विद्यापीठके पाठ्यक्रममें गणितकी प्रधानता थी । दर्शन-शास्त्रका परिचय पानेके लिये रेखा-गणितके ज्ञानकी आवश्यकता समझी जाती थी । एक वैयाकरण लिखता है कि अफलातूनके दरवाजेपर यह लिखा था—"रेखागणितसे अनभिज्ञ पुरुष यहाँ न आवें;" किन्तु इसका यह अर्थ न करना चाहिये कि उसके दार्शनिक विचारोंमें केवल औपपत्तिक विवेचन था और जिस प्रकार अरस्तूने अपने ग्रंथोंमें विकासवादका उपयोग किया उसका अफलातूनके विचारोंमें पता ही न था, उसने भी विकासवादका थोड़ा बहुत उपयोग और विवेचन अवश्य किया, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है । परन्तु खेद है कि विद्यापीठमे उसने भिन्न भिन्न विषयोंका जो विवेचन किया उसका पता हमें नहीं मिलता, वह सारा नष्ट होगया है । जब हम यह सोचते हैं कि उसके विचारोंका वास्तविक और परिपूर्ण विकास यहीं हुआ होगा तब तो हमें यह हानि बहुत भारी जान पड़ती है । उसके जो ग्रंथ अवशिष्ट हैं वे संवादात्मक हैं और उनमें कुछ विशिष्ट सिद्धान्तोंका ही विवेचन है । परन्तु जैसा कि हम कह चुके हैं उसके संपूर्ण दार्शनिक विचारोंका विकास विद्यापीठमें ही हुआ होगा । इन विचारोंके विकासका कोई विवरण अब प्राप्य नहीं है ।

यद्यपि अफलातूनने विज्ञानके भिन्न भिन्न अङ्गोंके अध्ययन-पर जोर दिया था, तथापि उसकी सारी शिक्षाका मूल उद्देश

नैतिक विकास था। ग्रीसके अन्य दार्शनिकोंके समान उसने भी सारा ज्ञान व्यवहारके लिए ही सिखाना चाहा—उसकी दार्शनिक शिक्षाका उद्देश था कि उसके द्वारा प्रत्येक मनुष्य अपनी जीवन-यात्राका वास्तविक मार्ग जान सके और तदनुसार अपना जीवन-यापन करनेकी स्फूर्ति उसे हो। मनुष्यका वैयक्तिक 'नैतिक विकास' और 'मनुष्य जातिकी सेवा' ही उसके विचारोंके मुख्य उद्देश थे। उसका कहना था कि मनुष्यका निजी नैतिक विकास विचारोंके सहसा परिवर्तनसे अथवा मनोरागोंकी लहरके वश होनेसे नही हो सकता। वह केवल शनैः शनैः अभ्यास और अध्ययनसे ही हो सकता है। परन्तु जब कभी वह विकास होता है तब हमारे जीवनमें बड़ा भारी परिवर्तन देख पड़ता है और उससे मनुष्य जातिकी सेवाकी दीक्षा प्राप्त हो जाती है। इस सम्बन्धमें हमें एक बात स्मरण रखनी चाहिये। आज हम 'मनुष्य जातिकी सेवा' का जो अर्थ करते हैं उस अर्थमें अफलातूनने इन शब्दोंका उपयोग नही किया है। उसके शिष्य उपदेश देनेका काम तथा 'सामान्य सामाजिक कार्य' न करते थे—वे प्रत्यक्ष राजकीय क्षेत्रमे उतर कर राजकीय कामोंके संचालनका और, आवश्यकतानुसार, प्रत्यक्ष राज्यशासनका काम करते थे। 'समाज-सेवा' का उनका यही अर्थ था।

अफलातूनका उद्देश 'दार्शनिक शासक' बनानेका था। वह चाहता था कि यह दार्शनिक शासक केवल कानूनके शब्दानुसार नही किन्तु अपनी विकसित बुद्धिके अनुसार शासनका कार्य करे। यदि यह उद्देश सिद्ध न हो तो उसकी इच्छा थी कि दार्शनिक व्यवस्थापक तैयार किये जायँ जो अपनी विद्वत्ता और बुद्धिमत्ता कानूनमें ठूँस ठूँस कर भर दें। 'रिपब्लिक'

नामक ग्रन्थमें उसने प्रथम उद्देशकी सिद्धिका प्रयत्न किया है और 'लॉज़' नामक ग्रन्थमें दूसरे उद्देशकी सिद्धिका । परन्तु इससे कोई यह न समझे कि उसके ये समस्त विचार केवल 'खयाली दुनियाँ' की बातें थीं और उन विचारोंके प्रचारसे प्रत्यक्ष कुछ भी कार्य न हो सका । वास्तवमें उसका विद्यापीठ राजकीय कार्योंकी शिक्षाका केन्द्र था और उसके शिष्योंमेंसे अनेकोंने राज्य-संचालकका और व्यवस्थापकका काम किया । विद्यापीठसे निकल कर उसके शिष्योंने भिन्न भिन्न राज्योंमें सुव्यवस्था स्थापित करनेका प्रयत्न किया ।

अफलातूनके बाद जेनोक्रेटीज नामक पुरुष उसके विद्यापीठका संचालक हुआ । इस व्यक्तिने प्रसिद्ध सिकन्दरके कहनेपर उसे राजाके कार्योंकी शिक्षा दी और आथेन्सके राजकीय कार्योंमें प्रत्यक्ष भाग भी लिया । ग्रीसके पूर्व और पश्चिम, दोनो ओर, इस विद्यापीठका यथेष्ट प्रभाव पड़ा । एक बातमें तो इसका प्रभाव खूब गहरा और स्थायी रहा—यूनानी कानूनके विकासमें इस विद्यापीठका अच्छा हाथ रहा । स्वयं अफलातूनने अपने तत्वोंके अनुसार ग्रीसके कानूनका प्रणयन और परिवर्तन करनेका प्रयत्न किया था । ऐसा जान पड़ता है कि तत्कालीन ग्रीसपर 'रिपब्लिक' की अपेक्षा 'लॉज़' नामक ग्रंथका अधिक प्रभाव पड़ा ।

अफलातूनके कार्य इतनेमें ही समाप्त नही होते । साठसे सत्तर वर्षकी अवस्थातक सिसलीमें उसने अपने तत्वोंको प्रत्यक्ष व्यवहारमें लानेका प्रयत्न किया था । तत्कालीन राजकीय परिस्थितिके सम्बन्धमें मनन करनेसे उसकी यह दृढ़ धारणा होगयी थी कि राज्योंकी शासनव्यवस्थाओं†का जब-

† Constitutional organisations

तक पहले सिरेसे परिवर्तन न किया जाय, तबतक राजकीय संसारका सुधार न होगा। उसका यह विश्वास होगया था कि जबतक तत्वज्ञानका साम्राज्य नहीं स्थापित होता तबतक न्यायकी विजय न होगी और इसके लिये यह आवश्यक है कि या तो तत्वज्ञानी ही राजा हो या राजा लोग तत्वज्ञानी बनें। ईसा पूर्व ३८७ (वि० पू० ३३०) वर्षमें जब वह इटली और सिसलीको गया तब इन्हीं उपरिलिखित विचारोंका संस्कार उसके मनपर पड़ा हुआ था। इस समये इन देशोंमें बड़ा अन्धेर मचा हुआ था। परन्तु जब डियोन नामक व्यक्तिसे अफलातूनकी भेंट हुई तब उसपर इसका इतना प्रभाव पड़ा कि शीघ्र ही उक्त व्यक्ति इसके विचारोंमें दीक्षित होगया। बीस वर्ष बाद जब प्रथम डायोनीशियसकी मृत्यु हुई, तब द्वितीय डायोनीशियस सायरेक्यूसका राजा हुआ। अफलातूनके विचारोंके प्रभावकी स्मृति डियोनके मनमें अब भी जागृत थी, इस कारण उसे ऐसा जान पड़ा कि इस दार्शनिकका मुझपर जैसा प्रभाव पड़ा है, वैसा ही डायोनीशियसपर पड़े बिना न रहेगा। इस कारण द्वितीय डायोनीशियससे कह कर डियोनने अफलातूनको दरबारमें बुलवाया। स्वयं डियोनने भी उसे लिखा था कि अब 'दार्शनिक राजा' बनानेका अवसर प्राप्त हुआ है। अफलातूनको इस कार्यमें सफलता पानेकी बहुत कम आशा थी, पर उसे यह अपना कर्तव्य जान पड़ा कि मैं अपने विचारोंको प्रत्यक्ष कार्यरूपमें परिणत कर उचित कानून और शासन-व्यवस्था तैयार करनेका प्रयत्न करूँ। आये अवसरको खोकर केवल 'बातूनी' कहलानेकी उसे लाज लगी। उसे ऐसा जान पड़ा कि यदि दार्शनिक विचारोंके अनुसार प्रत्यक्ष कार्य कर दिखलानेमें मैं आगा-पीछा करता हूँ तो उन

विचारोंकी हँसी हुए विना न रहेगी। अतः उसने निमंत्रण स्वीकार कर साठ वर्षकी अवस्थामें ईसा पूर्व ३६७ (वि० पू० ३१०) वर्षमें सिसलीको प्रस्थान कर दिया।

इस समय यहाँ जो परिस्थिति थी वह कठिन तो अवश्य थी, पर उसके सुधारकी कुछ आशा भी थी। डायोनीशियस-की अवस्था इस समय वीस वर्षकी थी, अर्थात् अफलातून जैसा चाहता था वैसा वह शासक न तो छोटी वयका था और न दत्तचित्त होकर शीघ्र शिक्षा ग्रहण करनेके योग्य ही था। परन्तु उसमें एक वात अच्छी थी और वह यह थी कि उसके वापने उसे सार्वजनिक संसर्गसे दूर रखा था, इस कारण उसके मनपर नये विचारोंका प्रभाव शीघ्र पड़ सकता था। इतना ही नहीं, वह स्वयं यह कहा करता था कि दर्शनशास्त्रके अध्ययनमें मुझे वडी रुचि है। सिसलीमें इतनी गड़वड़ी मची थी कि उसके सुधारकी तथा कार्थेजसे उसकी रक्षा कर वहाँ यूनानी विचारोंके प्रभाव स्थापित करनेकी अत्यंत आवश्यकता थी। पर वास्तवमें वहाँ कुछ भी न वन पड़ा। जैसा ऊपर वतला चुके हैं, अफलातूनके मतमें दर्शनशास्त्रकी शिक्षाके लिये गणितका ज्ञान आवश्यक था। डायोनीशियस चाहता था कि मेरी शिक्षा शीघ्र समाप्त हो जावे। इसलिये वह अधीर हो उठा और अपने अध्ययनका कार्य उसे कष्टकारक जान पड़ा। परन्तु इससे भी वुरी वात यह थी कि इस राजाके दरवारमें नित्य झगड़े-फसाद और षड्यन्त्र होते रहते थे। फिर भी अफलातूनके दर्शनशास्त्रके अध्ययनपर डियोनने इतना जोर दिया कि डायोनीशियसने उसे अफलातूनके आनेके चार महीने के भीतर ही सायरेक्यूससे निकाल वाहर किया। इसके वाद कुछ समयतक अफलातून वहाँ वना रहा, पर सफलताकी उसे

कोई आशा न थी । अन्तको ईसाके पूर्व ३८८ (वि० पू० ३०६) वर्षमें वह वहाँसे आथेन्सकी ओर चल पड़ा। मार्गमें पायथोगोरीयन पंथके आर्कीटस नामक मनुष्यसे उसकी भेंट हुई। इस मनुष्यने राजनीतिक क्षेत्रमे बड़ा काम किया था। इससे अफलातूनकी अच्छी मित्रता होगयी और इस मित्रतासे आगे चलकर उसे बड़ा लाभ हुआ।

सारांश, अफलातून अपने उद्देशमें विफल हुआ। यद्यपि अफलातून डायोनीशियससे बराबर यही कहता रहा कि राजकीय सुधारोंमें हाथ लगानेके पहले अपनी शिक्षा पूरी कर लो, फिर भी उन दोनोंमें कोई प्रत्यक्ष झगड़ा नहीं हुआ था। अफलातून जब सायरेक्यूससे विदा होने लगा तब डायोनीशियसने उससे कहा था कि मैं तुम्हें यहाँ आनेके लिये फिरसे निमंत्रण भेजूँगा, डियोनको वापस बुला लूँगा और तुम दोनो की सहायतासे सायरेक्यूसका सुधार करूँगा। अफलातूनके विदा होनेपर उन दोनोंमें एक वर्षके भीतर ही पुनः पत्र-व्यवहार होने लगा, परन्तु पाँच वर्ष बीतनेपर ही अफलातून फिर वहाँ जासका। इस कालमें वह अपने विद्यापीठमें शिक्षणका काम करता रहा। उधर, डियोन देशनिकालेमें ही अपना काल बिताता था और डायोनीशियस मनकी लहरके अनुसार अपना शास्त्राभ्यास किया करता था। अन्तमें ईसाके पूर्व ३६१ वर्षमें डायोनीशियसने अफलातूनको दूसरी बार निमंत्रण भेजा, परन्तु डियोनको यही कहला भेजा कि अभी तुम एक वर्ष और सायरेक्यूसमें नहीं आ सकते। इस अवस्थामें अफलातूनको पहले पहल ऐसा जान पड़ा कि निमंत्रणको अस्वीकार कर देना चाहिये। परन्तु आर्कीटसके कहनेपर उसने निमंत्रण स्वीकार कर लिया। डायोनीशियस कहा करता था कि मैंने

अध्यात्मशास्त्रोंके रहस्योंका अवगाहन कर लिया है, इसलिये सायरेक्यूस पहुँचनेपर पहले पहल अफलातूनने डायोनीशियसको यह समझाया कि दर्शनशास्त्रका अध्ययन कितना कठिन कार्य है और उसके लिये कितने श्रम और समयकी आवश्यकता है। यह बात डायोनीशियसको न रुची। शीघ्र ही उन दोनोंके बीच डियोनके प्रश्नपर झगड़ा होगया। परिणाम यह हुआ कि अफलातून मानो सम्माननीय कैदमें पड़ गया। वहाँसे वह बड़ी कठिनाईसे आर्कीटसके प्रयत्नोंसे मुक्त होकर ग्रीसको भाग सका।

इस प्रकार सायरेक्यूसमें कुछ प्रत्यक्ष कार्य कर दिखलानेके उसके प्रयत्नोंका अन्त हुआ। तथापि इसके बाद दस वर्षतक इस शहरकी शोचनीय परिस्थितिपर, प्रत्यक्ष कार्यकर्त्ताके नाते न सही, केवल प्रेक्षकके नाते उसका ध्यान बना रहा। ईसापूर्व ३६० (वि० पू० ३०३) वर्षमें डियोनसे उसकी भेंट हुई। डियोन डायोनीशियसपर चढ़ाई करना चाहता था। इस कार्यमें उसने अफलातूनकी सहायता माँगी। पर अफलातूनने डायोनीशियसका नमक खाया था, इसलिये उसने उत्तर दिया कि मैं ऐसा नहीं कर सकता। इतना ही नही, दो तीन वर्ष बाद अफलातून और डायोनीशियसमें पत्र-व्यवहार भी होने लगा। उधर डियोनने आक्रमणकी अपनी तैयारी जारी रखी और उसमे अफलातूनके कई मित्र शामिल हो गये। यह आक्रमण सफल हुआ और ईसा पूर्व ३५७ वर्षमें सायरेक्यूससे डायोनीशियस भगा दिया गया। अब अफलातूनका मित्र और शिष्य डियोन वहाँका शासक हुआ, इसलिये अब ऐसा जान पड़ा कि वहाँ आदर्श दार्शनिक राज्यकी स्थापना होनेके मार्गमें कोई कठिनाई नही रही। परन्तु वहाँ शीघ्र ही फिरसे झगड़े-फसाद

उठ खड़े हुए। अफलातून अपने अनुभवोंसे कहा करता था कि सिसलीको कोई दुःशाप अवश्य है। बात भी यही हुई। डियोन बड़ा दुराग्रही पुरुष था, इसलिये वहाँ खूब आपसी झगड़े पैदा हुए। अफलातूनने उससे बहुतेरा कहा कि साम-नीतिका अवलम्बन करना चाहिये, पर इस सदुपदेशका उसपर कुछ असर न हुआ। डियोनसे स्वभावसिद्ध व्यवस्था-पकका काम न हो सका। एक झगड़ा होनेपर अफलातूनके विद्यापीठके एक विद्यार्थी कैलिप्पसने डियोनको मार डाला। अब अफलातूनने डियोनके मित्रोंको लिखा कि तुम कानूनके अनुसार राज्यशासन करो और शासन-विधानके लिये तुम ५० सदस्योंकी एक समिति बनाओ। माना कि यह व्यवस्था आदर्श न होगी, पर दार्शनिक व्यवस्थासे कुछ ही नीचे दर्जेकी होगी। जब दार्शनिक व्यवस्थाकी स्थापना असंभव है, तब उससे मिलती-जुलती व्यवहार्य व्यवस्थाका जारी करना ही श्रेयस्कर है। अफलातूनने अपना यह उपदेश डियोनके मित्रों-को कई बार लिख भेजा और उसने झगड़े-फसाद दूर करनेके लिये मिश्र राज्य (मिक्स्ड कांस्टिट्यूशन) के संघटनकी योजना भी उन्हें सुझाई। पर इससे कुछ भी लाभ न हुआ।

अपने समयके राजकीय क्षेत्रमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे भाग लेनेका अफलातूनने जो प्रयत्न किया, उसका दिग्दर्शन हो चुका। उसके प्रयत्न न तो कल्पनामूलक, 'खयाली', थे और न वे असंभव ही थे। यदि वह अपने कार्यमें सफल हुआ होता तो सायरेक्यूसको आदर्श राज्य-संघटनका लाभ होता। फिर ग्रीसका प्रभाव उधर इतनी मजबूतीसे स्थापित हो जाता कि रोम या कार्थेजको उसे उखाड़ कर बाहर करना असंभव हो जाता। उसकी विफलताका सारा दोष अकेले

उसी पर मढ़ना ठीक नहीं है। कदाचित् उसपर कोई यह दोष लगावे कि उसने डायोनीशियसके साथ वर्तावमे चतुरता न दिखाई। ठीक है, किन्तु कौन कह सकता है कि किसी अन्य उपायका प्रयोग करनेसे सफलता अवश्य हुई होती! अफलातूनके चातुर्यहीन कार्यों की अपेक्षा डियोनका दुराग्रह ही उसकी विफलताके लिये अधिक उत्तरदायी जान पड़ता है। परन्तु इससे भी कई दर्जे अधिक विफलताका कारण सिसलीकी सामाजिक परिस्थिति ही है। वहाँ विलासिताका साम्राज्य था, झगड़े-फसाद नित्य हुआ करते थे, नित्य ही नयी नयी रचनायें होती और बिगड़ती थी। तथापि वहाँ जो अनुभव अफलातूनने प्राप्त किये, उनसे उसे कुछ लाभ अवश्य हुआ, उनसे उसके सिद्धान्तोंके विकासमें सहायता मिली।

जब ई० पूर्व ३८७ वर्षमें वह सिसली गया था तब वह दार्शनिक राजाके सिद्धान्तको लेकर वहाँ पहुँचा था और उसे बहुत आशा थी कि अपने विचारोंके अनुसार मैं वहाँ आदर्शनगरी स्थापित कर सकूँगा, और वहाँ निर्जीव कानूनकी आवश्यकता न रख कर केवल सजीव बुद्धिके अनुसार समस्त कार्योंका संचालन करनेवाले 'दार्शनिक राजा' को अधिक प्रसन्न कर सकूँगा। उस समय बुद्धिकी सर्वसमर्थता† और निरंकुश शासनमें उसका पूर्ण विश्वास था। पर अन्तमें उसे कानूनकी सर्वसमर्थता और मिश्र राज्य-संघटनमें विश्वास करना पड़ा। यद्यपि यह व्यवस्था आदर्श न जान पड़ी, तो भी यह व्यवहार्य और आदर्शसे मिलती जुलती अवश्य दिखाई दी। इसका यह अर्थ नहीं कि शासनके काममें बुद्धिका उपयोग न करना ही उसे ठीक प्रतीत होने लगा। इसके विपरीत, अब भी शासनकार्यमें

† Supremacy

बुद्धिका बहुत कुछ उपयोग उसे देख पड़ा। कानून तो चाहिये पर यह आवश्यक है कि लोग बलप्रयोगके भयसे नही, किन्तु उनकी आवश्यकता और औचित्य देखकर उनका पालन करें। इसीलिये उसने प्रत्येक कानूनके साथ उद्देश्यविवेचक लम्बी-चौड़ी प्रस्तावनाये जोड़नेकी सूचना की है। इसका दिग्दर्शन हमें उसके 'लॉज़' नामक ग्रंथमें मिलता है। यहाँ बुद्धि और कानून-के शासनोका सामञ्जस्य करनेका प्रयत्न किया गया है। प्रस्ता-वनामें वे समस्त तत्व बताये है जिन्हें बुद्धि ग्रहण कर सकती है और जिनके अनुसार कानून बना है। इस प्रकार यह प्रस्ता-वना बुद्धि और कानूनके बीच सेतुका काम देती है। अफला-तूनके सिद्धान्तोके जो दो स्वरूप देख पड़ते हैं, उनके बीच भी इस प्रकारकी प्रस्तावना पुल जैसी ही है।

उसके सिद्धान्तोके दूसरे स्वरूपकी कुछ छाया हमें उसके 'पोलिटिक्स' नामक ग्रंथमें देख पड़ती है। जब हमें 'दार्शनिक राजा' नही मिल सकता तब कानूनकी सर्वसमर्थता, कानूनके अनुसार की हुई राज्यव्यवस्था, ही उत्तम समझनी चाहिये और इसलिये कानूनोको लिखित रूप देना आवश्यक है। इसी सिद्धान्तका पूर्ण विकास 'लॉज़' में हुआ है। अपने प्रथम आदर्शको अब भी वह आदर्श मानता है, पर आदर्शकी प्राप्तिकी सम्भावना न होनेके कारण उसने कानूनकी और उसके रक्षकोकी शासनव्यवस्था सुझाई है। सारांश यह है कि जो कुछ उसे अपने अनुभवोका सार भाग समझ पड़ा वह उसने हमारे लिये 'लॉज़' नामक ग्रंथमें बता दिया।

परन्तु हमे यह न भूलना चाहिये कि अफलातून वास्तवमें दार्शनिक था और अपनी आयुके अन्तिम भागमें दार्शनिक प्रश्नोपर ही सोचा विचारा करता था। हमें यह स्पष्ट देख

पड़ता है कि जहाँ एक ओर वह दार्शनिक विचारोंकी तरफ बड़े जोरसे प्रवाहित होता था, वहाँ दूसरी ओर वह इस संसारकी व्यवहार्य बातोंका विचार रखकर कुछ प्रत्यक्ष कार्य भी कर दिखाना चाहता था। प्रत्येक समझदार मनुष्यको मालूम है कि प्रायः सभी तत्वविचारकोंको यही स्थिति होती है। हाँ, तात्विक विचारकी प्रवृत्ति उसमें अधिक बलवती थी, फिर भी कर्तव्यका ज्ञान उसे संसारके व्यवहारक्षेत्रमें खींच लेगया था। अपने जीवनके अन्तिम दुःखद कालमें वह अध्यात्मशास्त्रके रहस्योंपर सोचा करता था और उन्हींके सम्बन्धमें लिखा करता था। उसके इन विचारोंमें सुकरातका प्रभाव बहुत कम देख पड़ता है। व्यवहारात्मक बुद्धिकी अपेक्षा शुद्ध बुद्धिकी मीमांसा ही उनमें अधिक है। तथापि वह सदैव यही समझता रहा कि मैंने जीवनके प्रश्नोंको एक नयी रीतिसे हल किया है। इसीलिये वह उन विचारोंकी शिक्षा लोगोंको अन्त तक देता रहा और अन्ततक अपने उस 'मनोराज्य' की स्थापनाकी आशा करता रहा जिसमे एक कुटुम्बत्वका तत्व परिपूर्ण रूपसे संस्थापित हो चुका हो।

दूसरा अध्याय।

उसके ग्रंथोंकी विचार-पद्धति।

अफलातूनके समस्त ग्रंथ प्रारम्भसे अन्ततक संवाद रूपमें लिखे गये हैं। अपने यहाँ भी प्राचीन कालके महाभारत और अर्वाचीन कालके तुलसीदासकृत राम-चरित-मानस जैसे बृह-

ग्रन्थ भी संवाद रूपमें ही लिखे गये हैं। पर इनमें कुछ भेद है। अपने यहाँके इन ग्रंथोंमें बहुधा आख्यायिकाओंका वर्णन है, जो कुछ तात्विक विवेचन है वह केवल अनुषंगी है और उसका स्थान प्रधान विषयके वर्णनकी दृष्टिसे गौण है। अपने यहाँ कथा-बोधके मिषसे तात्विक और धार्मिक बोध करानेका प्रयत्न किया गया है। पर अफलातूनके संवादोंमें तात्विक विवेचनकी ही प्रधानता है। जो कुछ आख्यायिकायें उनमें हैं, वे केवल उदाहरण-स्वरूप हैं। इन संवादोंकी रीति सुकरातने प्रारंभ की थी। उसने किसीको ज्ञानोपदेश करनेका प्रयत्न नहीं किया। यहाँतक कि वह ज्ञानपर अपना अधिकार तक न दिखलाता था। वह केवल सुप्त ज्ञानको जागृत करना चाहता था—पूर्वस्थित ज्ञानको व्यक्त दशामें लाना चाहता था। मनुष्यके मनमें पहलेसे ही जो कुछ विचार रहते थे, उन्हींको वह अपने प्रश्नों द्वारा बाहर खींच निकालता था। अफलातूनने भी अपने ग्रंथोंमें इसी रीतिका अवलंबन किया है। मनुष्यके मनमें जिस प्रकारके प्रश्नोत्तर उठा करते हैं, उन्हींका उसने दिग्दर्शन कराया है—उसने केवल सुसम्बद्ध विवेचन नहीं किया है। वह केवल लेखक ही नहीं, व्याख्याता और शिक्षक भी था। जिन जिन विचारोंका विवेचन वह शिष्योंके समक्ष करता था, वे वे विचार अपने ग्रन्थ लिखते समय उसे अवश्य सूझते थे। प्रत्येक सच्चा शिक्षक यही चाहता है कि मेरे विद्यार्थी यथासंभव सब बातें अपनेतईं जानें और सोचें, प्रत्यक्ष उन्हें बतलानेका मुझे बहुत कम काम पड़े। लेखकके नाते अफलातूनको ऐसा जान पड़ा कि प्रत्येक मनुष्यके मनमें विचारोंका जिस क्रम और रीतिसे विकास होता है, उसीका अवलंबन मुझे भी करना ठीक होगा। जिस प्रकार दस पाँच

लोगोंके बीच किसी विषयका विचार होता है, उसी प्रकार उसपर किसी व्यक्तिके मनमें प्रश्नोत्तर सूझा करते हैं। पहले एक पक्षका मण्डन किया जाता है, फिर उसका खण्डन किया जाकर दूसरे पक्षका मण्डन होता है और अन्तमें वह सत्यका ज्ञान प्राप्त करता है। सारांश, किसी व्यक्तिके मनमें प्रश्नोत्तर द्वारा अर्थात् संवाद-रूपमें विचारोंका विकास होता है। लेखन-में प्रश्नोत्तरके लिये भिन्न भिन्न व्यक्तियोंकी कल्पना कर ली गयी है।

नैतिक प्रश्नोंपर सर्वसाधारणके जो विचार हैं, उनसे अफला-तून अपने विवेचनका आरंभ करता है। फिर वह ऊपर बताये अनुसार खण्डन-मण्डन और प्रश्न द्वारा सत्यका ज्ञान करा देता है। आजके शिक्षण-शास्त्रमें इन तत्वोंका बड़ा महत्त्व समझा जाता है। इस रीतिसे सीखे हुए पुरुषको जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह स्पष्ट और परिपक्व रहता है। उसे ऐसा नहीं जान पड़ता कि किसीने मुझे कुछ बता दिया है और उसमें मैं अंधे मनुष्यकी तरह विश्वास करता हूँ। जो कुछ ज्ञान वह इस रीतिसे प्राप्त करता है, वह वास्तवमें उसका ज्ञान है, वह आत्मसात् हुआ ज्ञान है। किसीके द्वारा जबरदस्ती लादा हुआ, किसीके कहेपर विश्वास रखकर पाया हुआ, ज्ञान वास्तवमें 'हमारा' ज्ञान नहीं होता। उचित प्रश्नोत्तरों द्वारा जो ज्ञान 'जाग्रत' होता है, वह 'हमारा' हो जाता है, वह ज्ञान बाहरसे किसीके द्वारा हमारे मनमें जबरदस्ती ठूँसा सा नहीं जान पड़ता।

अफलातूनने अपनी विवेचन-पद्धतिमें तुलनाओंका, उदा-हरणोंका, बहुत उपयोग किया है। उसके समयमें मानवी तत्वज्ञानके विवेचनमें भौतिक सृष्टिके उदाहरणों द्वारा विषय-

प्रतिपादनकी परिपाटीसी पड़ गयी थी। सुकरातने भिन्न भिन्न कलाओंके उदाहरणोंका बहुत उपयोग किया है। ज्ञान और शिक्षाकी आवश्यकता बतानेके लिए वह धीवर या चिकित्सकके उदाहरणकी ओर बहुधा संकेत किया करता था। अफलातूनने भी इन दोनों प्रकारोंके उदाहरणोंका यथेष्ट उपयोग किया है। जीवसृष्टिके बहुतसे उदाहरण उसने अपने विवेचनमें समाविष्ट किये है। 'रिपब्लिक'में तो कई सिद्धान्तोंके समर्थनमे कुत्तेका उदाहरण अनेक बार आया है। परन्तु सुकरातके समान अफलातूनने भी कलाओंके ही उदाहरण अधिक दिये है। राजकीय कार्योंको भी कला समझ कर उसने उनके लिए ज्ञानकी आवश्यकता वतायी है। उसके द्वारा की गयी राजकीय तत्वकी समस्त मीमांसामें इस सिद्धान्तका बड़ा महत्व है। जिस प्रकार अन्य कारीगरोंको अपनी अपनी कारीगरी अच्छी तरह जानना आवश्यक है, उसी प्रकार राजकीय क्षेत्रमे पड़नेवाले पुरुषको, राज्य-धुरंधरको, अपने कार्योंका अच्छा ज्ञान होना आवश्यक है। 'रिपब्लिक' का यही मुख्य सिद्धान्त है। इसी सिद्धान्तको उसने कुछ आगे बढ़ाया है। जिस प्रकार किसी कलाविज्ञको उसकी कलाके कामोंमें नियमोंसे जकड़ रखना ठीक नही, उसी प्रकार राज्य-धुरंधरको अपने कामोंमें पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिये। इस प्रकार वह 'निरंकुश शासन'के सिद्धान्तपर पहुँचा है। अन्तको उसने उसी आधारपर यह कहा है कि प्रत्येक राज्यधुरन्धर अपने समस्त समाजका भला ही करेगा, क्योंकि प्रत्येक कारीगर अपनी कारीगरीकी चीजको उत्तम ही बनानेका प्रयत्न करता है। इस प्रकार उदाहरणों द्वारा उसने अनेक सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया है।

परन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि उदाहरणोंका उपयोग कोई सरल कार्य नहीं है और हमें सच्चे उदाहरणोंके बजाय झूठे उदाहरण भी शीघ्र सूझ सकते हैं। स्वयं अफलातून भी इस कठिनाईमें कई बार पड़ा है और कई बार उसने झूठे उदाहरणों-का उपयोग किया है। जीवसृष्टिके जो उदाहरण उसने दिये हैं वे ठीक नहीं कहे जा सकते। ऐसे उदाहरणोंसे तो कुछ भी, यहाँ तक कि 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाला सिद्धान्त भी, सिद्ध किया जा सकता है। इसलिए हम यह कह सकते हैं कि उनसे कुछ भी सिद्ध नहीं होता। मनुष्य विचारवान् प्राणी है। इसलिए बुद्धिहीन वर्गके प्राणियोंके उदाहरण देकर हम कोई सिद्धान्त नहीं निकाल सकते। कलाओंके उदाहरणोंपर हम आक्षेप कर सकते हैं। राज्यशासन कुछ चिकित्सा जैसा कार्य नहीं है। माना कि चिकित्सकको किताबी नुस्खोंके अनु-सार चलना ठीक नहीं है। पर इससे यह नहीं सिद्ध होता कि राज्य-संचालकको भी बिना नियमोंके, बिना कानूनके, अपना कार्य करना चाहिये। शरीरकी चिकित्सा और मनकी शिक्षा सब बातोंमें एक सी नहीं हो सकती, पर अफलातूनने इन भेदोंपर ध्यान नहीं दिया। थोड़ेमें हम कह सकते हैं कि अन्य कलाओंके उदाहरण देकर राज्यशास्त्रका या समाजशास्त्रका विवेचन करना ठीक नहीं कहा जा सकता। तथापि हमें यह न भूलना चाहिए कि अफलातूनके मनमें राज्यसंचालन अन्य कलाओंके समान ही नहीं है, किन्तु स्वयं एक कला है। उसका स्वतंत्र ज्ञान राज्यशासकके लिए आवश्यक है और उसका स्वतंत्र विवेचन होना मनुष्य समाजके लिए लाभदायक है।

दूसरा भाग ।

'रिपब्लिक' नामक ग्रन्थका विवेचन ।

पहला अध्याय ।

आदर्श समाज-व्यवस्थाका मूलतत्व स्वधर्मानुसरण ।

कोई दार्शनिक कितना भी आदर्श विचारोंवाला क्यों न हो, उसपर उसके कालकी परिस्थिति और विचारोंका प्रभाव पड़े विना नहीं रहता। अफलातूनके सम्बन्धमें भी यही कहा जा सकता है। बात यह है कि प्रत्येक पुरुष अपनी परिस्थितिके अनुसार ही सोच विचार सकता है। उसीमें उसका पालन-पोषण होता है, इस कारण उसके कालकी परिस्थितिके विचार और आचारोंका प्रभाव उसपर पड़े विना नहीं रहता। यदि वह किसी आदर्शकी कल्पना भी करे, तो वह कल्पना उसी परिस्थितिसे पैदा होती या रंगी रहती है। इस कारण किसी तत्वज्ञके विचारोंको यदि हमें ठीक ठीक समझना हो तो उसके कालकी समस्त परिस्थितिका थोड़ा परिचय प्राप्त कर लेना नितान्त आवश्यक है। तत्कालीन परिस्थितिके परिचयके बाद ही हम जान सकते हैं कि उसके विचारोंका कितना भाग केवल उस काल या उस देशके लिए, जिसमें उसका जन्म हुआ था, और कितना भाग सर्वकालमें तथा सर्व देशोंमें सत्य है। इसलिए हम अपने विवेचनके प्रारंभमें, और आवश्यकतानुसार बीच बीचमें, अफलातूनके समयकी सब प्रकारकी परिस्थितिका विचार करेंगे।

अफ़लातूनके समयमें ग्रीसकी अवस्था ठीक न थी। विचार और आचार दोनों दृष्टियोंसे लोगोंकी अधोगति हो रही थी। पहले उसे ऐसा जान पड़ा कि प्रचलित समाजमे अच्छे अच्छे नियमो द्वारा सुधार करनेसे स्थिति ठीक हो जायगी। परन्तु जब समाजके शासकोंने उसके गुरु सुकरातको विषका प्याला पिलाया तब तो उसकी समस्त आशा नष्ट हो गयी और उसे ऐसा जॅचा कि जबतक समाजकी रचना नये सिरेसे न हो तबतक उसका सुधार न होगा और न मनुष्यकी नैतिक उन्नति ही सम्भव है। उस समय स्वार्थ-सिद्धिके विचारने बहुत जोर पकडा था और शासक अपने अधिकारोंके बलपर समाजकी भलाई करनेकी अपेक्षा अपनी निजी भलाई सिद्ध किया करते थे। अपनी अपनी तुम्बड़ी भरनेके विचार प्रत्येकके मस्तिष्कमें भरे थे और उसी प्रकार लोग आचरण किया करते थे। राज्यके उद्देश कुछ तो व्यक्तिके उद्देश हो गये थे। इतना ही नही, राज्यके अन्तर्गत अनेक झगड़े उठ खड़े हुए थे। राज्यके सूत्र बहुधा नवसिखुओंके हाथमें थे। किसीको कुछ आवे या न आवे, कोई कुछ जाने या न जाने, उससे कुछ बन सके या न बन सके, किसी प्रकार जनताको अपनी ओर झुकाकर वह राज्यके किसी पदपर आरूढ़ हो जाता था और राज्यका काम मनमाने ढङ्गसे चलाता था। जिन राज्योंमें धनवानोका बोलबाला था, वहॉ ही यह बात थी, ऐसा नहीं। जहॉ जनताके हाथमें सूत्र थे, वहाँ भी यही बात थी और कुछ अंशोंमें अधिक स्पष्टरूपमें थी। धनवानोंका राज्य-सूत्रके बलपर धन इकट्ठा करना स्वाभाविक था। परन्तु जहाँ जनताका राज्य था, वहॉ भी वह लोक-शासन-सूत्र इसीलिए चाहती थी

कि हमें राज्यका नहीं तो वहाँके धनी लोगोंका ही धन लूटनेको मिले।

इस अवस्थामें अफ़लातूनको दो दोष देख पड़े। एक तो स्वार्थी नवसिखुए राज्याधिकारी होनेके लिए मरे जाते थे। दूसरे, राज्यकी एकता और उसके उद्देशोंका कहीं पता न था। ऐसी स्थितिमें मनुष्यका नैतिक बना रहना अशक्य था। इसके लिए समाजकी रचना बिल्कुल नये सिरेसे करनी आवश्यक थी। अफलातूनने "रिपब्लिकमें" यही प्रश्न हल करनेका प्रयत्न किया है। यह ग्रन्थ वास्तवमें मनुष्य-जीवनकी एक उच्च समस्याको हल करनेके लिए लिखा गया है। इस दृष्टिसे इसे नीति-शास्त्रका ग्रन्थ कहना चाहिए। इसके सिवा इसमें बिल्कुल एक नये समाजकी रचना की गयी है। इसलिए इसे समाज-शास्त्रका और साथ ही राज्य-विज्ञानका भी ग्रन्थ कह सकते हैं, क्योंकि किसी समाज या किसी राज्यके सदस्य हुए बिना नैतिक उन्नति सम्भव नहीं। नैतिक उन्नतिके लिए ज्ञानकी आवश्यकता है। बिना ज्ञानके सत् और असत्की परख नहीं हो सकती। इसलिए इसमें अध्यात्मशास्त्रके प्रश्नोंका भी विचार करना पड़ा। लोग ज्ञान किस प्रकार प्राप्त करें, इस प्रश्नका भी उत्तर देना आवश्यक है और इस कारण इस ग्रन्थमें इसका भी विचार आया है। मनुष्य-जीवनके लिए भौतिक वस्तुओंकी आवश्यकता होती है। इनपर लोगोंका कितना और कैसा अधिकार रहे, इस प्रश्नका भी उत्तर इसमें आवश्यक हुआ। इस प्रकार यह ग्रन्थ पढ़नेवालेकी मनःस्थितिके अनुसार समाज-शास्त्र, राज्य-विज्ञान, अध्यात्म-शास्त्र, शिक्षा-शास्त्र, सम्पत्ति-शास्त्र आदि भिन्न भिन्न शास्त्रोंका स्वरूप धारण करता है। इस एक ग्रन्थको लोग आवश्यकता-

नुसार इन भिन्न भिन्न शास्त्रोंका ग्रन्थ कहते हैं। वास्तवमें यह मनुष्य-जीवनकी उच्चतम आवश्यकताकी पूर्तिका मार्ग दिखलानेके लिए ही लिखा गया है।

इस ग्रन्थमें जो समाज-रचना दिखलायी गयी है, वास्तवमें उसके मुख्य तत्त्व दो ही हैं और वे उपरिलिखित मुख्य दो दोषोंको दूर करनेके लिए अफ़लातूनको आवश्यक जान पड़े। पहले तो जो कोई काम करे वह अपने कामके लिए शिक्षा और योग्यतासे लायक हो। विना योग्यताके कोई काम करना ठीक नहीं। फलतः इसके लिए यह आवश्यक होगा कि प्रत्येक पुरुष अपने 'गुणों'के अनुसार किसी ख़ास कामके लिए शिक्षाद्वारा तैयार किया जाय। चाहे जिस नवसिखुएको चाहे जो काम न दिया जाय। दूसरे, स्वार्थमूलक झगड़ोंको दूर करनेके लिए 'मेरा तेरा'का प्रश्न ही यथावश्यक और यथासंभव दूर कर दिया जाय। मुख्य प्रश्नके हल करनेके लिए ये जो दो उपाय बताये गये हैं उनको अमलमें लानेके लिए जो अनेक बातें अफ़लातूनको आवश्यक जान पड़ी, और जिनका दिग्दर्शन ऊपर कर दिया गया है, उनका सविस्तर विवेचन आवश्यक है।

इसलिए अब प्रश्न यह है कि किसी समाजके लिए किस किस प्रकारके कार्योंकी आवश्यकता है। पहले तो समाजका शासन आवश्यक है, इसके लिए शासक चाहिए। दूसरे, शत्रुओंसे उसकी रक्षा करना आवश्यक है, इसलिए योद्धा चाहिए। तीसरे, समाजका पोषण होना चाहिए, इसके लिए भौतिक वस्तु उत्पन्न करनेवाले लोग चाहिए। इन तीन प्रकारकी बातोंकी समाजको आवश्यकता है। इसलिए लोगोंके तीन वर्ग होते हैं, शासक-वर्ग, योद्धृ-वर्ग और उत्पादक-वर्ग।

शासकवर्ग ऐसा चाहिए जो ज्ञान-पूर्ण हो और मानवान्तर्गत विकारोंके परे हो। इनका वर्णन भारतीय भाषामें यों कर सकते हैं कि समाजके लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी आवश्यकता है*। परन्तु ये यदि सांसारिक आवश्यकताओंकी उलझनोंमे पड़े तो अपने कार्य 'कौशल-पूर्वक' न कर सकेंगे। अतः आवश्यक है कि सांसारिक आश्यकताओंके झगड़ोसे ये वरी कर दिये जायँ। विशेष कर शासक और रक्षक इनसे बिलकुल दूर रहें। इनके भरण-पोषणका कार्य राज्य अपने सिरपर ले और विवाहादिके भी झगड़ोंमें पड़नेकी आवश्यकता इन्हें न रहे। यह आवश्यकता भी राज्य ही पूर्ण करे। इस प्रकार ये अपने कामोंमे 'कौशल' प्राप्त करनेके लिए दत्तचित्त रहेंगे यदि दूसरे प्रलोभनोके लिए अवकाश ही न रहा तो इनका ध्यान दूसरी ओर जावेगा ही क्यों? और इनका ध्यान दूसरी ओर न गया तो कलहादिके लिए अवसर ही कहाँ रहा? यानी आन्तरिक झगड़ोंके कारण राज्यकी एकताके नष्ट होनेका मौका न आवेगा। लोगोंके कार्योंके विशिष्टीकरणसे तथा सांसारिक आवश्यकताओंको पूर्ण करनेका भार राज्यके अपने ऊपर लेनेसे राज्यमें अशान्ति होनेका डर ही नहीं रहेगा। स्वार्थके कारण ही समाजके झगड़े हुआ करते हैं। यदि स्वार्थका प्रश्न उत्पन्न ही न हो तो फिर झगड़े किसलिए होंगे? प्रत्येक व्यक्ति 'अपने अपने गुणों' के अनुसार शिक्षा पाकर अपने कर्मोंमें लगा हुआ है और उनमें कुशलता प्राप्त करना अपना कर्तव्य समझता है, फिर राज्यके भीतर मेलके स्थानमे बे-मेल किस प्रकार हो सकता है? परन्तु अफ़लातून इतनेसे सन्तुष्ट

* पाठक कृपया देखते जायँ कि अफ़लातूनकी आदर्श सामाजिक व्यवस्था हिन्दुओंकी सामाजिक व्यवस्थासे कहाँ तक मिलती जुलती है।

नहीं है। शासनका कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसके लिए उत्तम प्रकारके पुरुष चाहिए। केवल शिक्षासे यह काम न हो सकेगा। इसके लिए चुनाव ठीक ठीक होना चाहिए। जिन लोगोंपर अनेक प्रकारके मौक़े बीत चुके हैं और जो सब प्रलोभनोंमेंसे बेदाग़ गुजर चुके हैं, जिन्होंने यह दिखला दिया है कि राज्यकी भलाई ही हमारी भलाई है, उन्हींके हाथ-में शासन-सूत्र दिये जायँ, वही शासन-कार्यके लिए चुने जायँ। हम यह बतला ही चुके हैं कि धन-दाराके झगड़ोंसे वे दूर कर दिये जायँ। फिर अब बतलाओ कि जिन शासकोंके घर-द्वार अलग नहीं, पत्नी-पुत्र नहीं, माल-मिल्कियत नहीं, वे क्योंकर स्वार्थके झगड़ोंमें पड़ेंगे? उन्हें किसका पेट भरना है? किससे उनका प्रेम है? माल मिल्कियत किसे देंगे और किसे खिलावेंगे? सारांश यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना काम दत्तचित्त होकर करे। इसीको अफलातूनने 'न्याय' (जस्टिस) अथवा 'धर्म' कहा है—सामाजिक जीवनका यह मुख्य तत्त्व है।

इस प्रसिद्ध ग्रन्थका सारांश ऊपर आगया। परन्तु इतने से उसका अच्छा परिचय न होगा, अतः उसका कुछ विशेष वर्णन नीचे दिया जाता है।

हम ऊपर एक स्थानपर कह चुके हैं कि तत्कालीन विचारोंके स्थानमें सत्य विचार फैलानेके इरादेसे यह ग्रन्थ लिखा गया था। इसी कारण इसमें तत्कालीन विचारोंका स्थान स्थानपर खण्डन है। विशेष विस्तारके भयसे हम यहाँ उनका विचार न करेंगे। हम सीधे अफ़लातूनकेही विचार बतायेंगे। अफ़लातूनने एक राज्यके लोगोंके तीन वर्ण-भेद बताये हैं, उसका विचार राज्यकी आवश्यकता की दृष्टिसे हुआ है। परन्तु उसी वर्ग-भेदका विचार एक और

दृष्टिसे हो सकता है । प्रत्येककी आत्मा या मनमे तीन प्रकारके गुण होते हैं । वे है बुद्धि, तेज और वासना । बुद्धिके द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है और उसके द्वारा परस्परके प्रति शुद्ध प्रेम उत्पन्न होता है । इसका राज्यमें बड़ा भारी महत्त्व है । यह गुण सात्विक है । इसके विपरीत वासना है । यह सुख और सन्तोषका आनुषङ्गिक गुण है । इससे (काममूलक) प्रेम, क्षुधा, तृष्णा आदि विकार उत्पन्न होते हैं । यह स्पष्ट ही है कि इसे तमोगुण कहना चाहिए । इनके बीच वह रजोगुण है जिसे हमने तेज कहा है । शौर्य, दाक्ष्य जैसे गुण उससे उत्पन्न होते है और वह युद्धके लिए प्रवृत्त करता है । वह बुद्धिका भी सहकारी है, क्योंकि उसके कारण अधर्म या अन्याय देखकर मनुष्यके मनमे सात्विक क्रोध उत्पन्न होता है और धर्म या न्यायके सामने वह झुकता है । प्रत्येकमें ये तीन गुण होते हैं । परन्तु जिसमें जिस गुणकी प्रधानता रहती है, उसी प्रकार उसका वर्णन किया जाता है । सत्वगुण-प्रधान पुरुष सात्विक कहलाता है, रजोगुण-प्रधान पुरुष राजस कहलाता है और तमोगुण-प्रधान तामस कहलाता है । इसी प्रकार प्रत्येकके 'कर्म' निश्चित होते है । थोड़ेमें कह सकते हैं कि अफ़लातूनने भी गीता के

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥

तत्त्वको अपनी सामाजिक व्यवस्थामें पूर्ण स्थान दिया है । हाँ, यहाँ शूद्रोंके लिए कोई विशिष्ट स्थान नहीं देख पड़ता । शूद्रोंकी व्यवस्था केवल तृतीय या भावी उत्पादक-वर्गकी परिचर्याके लिए ही शायद उसने की है । पहले दो वर्गोंके लिए

उनकी बहुत कम आवश्यकता है। कारण स्पष्ट ही है। जिनके घर-द्वार, पत्नी-पुत्र, माल-मिल्कियत नहीं, उन्हें निजी व्यक्तिगत परिचर्याके लिए शूद्रोंकी आवश्यकता ही कहाँ? शायद एकत्र भोजनादिके समय उनकी कुछ आवश्यकता अफ़लातूनने मानी है। तात्पर्य यह कि शूद्रोंके विषयमें हम कह सकते हैं कि एक कुटुम्ब-पद्धतिके कारण उनकी विशेष आवश्यकता उसे न जॅची और इसलिए उसने उनका विचार न किया। मुख्य तीन वर्गोंके गुणों और कर्मोंका विचार क़रीब क़रीब गीतामें दिये विवरण जैसा ही है—

> शमो दमस्तपः शौचं शान्तिरार्जवमेव च।
> ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥
> शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
> दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥
> कृषिगोरक्षवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।

समाजकी दृष्टिसे किसी एक कर्मको हीन कहनेसे दुर वस्था पैदा होगी। इसलिए उसे भी 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' में दिया तत्त्व मानना पड़ा। जैसा ऊपर कह चुके हैं, यही उसके न्याय अथवा धर्मका मूलतत्त्व है।

इसका सबसे प्रथम उपयोग शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्तिमें देख पड़ता है। यदि प्रत्येक मनुष्य अपनी सारी शारीरिक आवश्यकतायें पूर्ण करनेका प्रयत्न करे तो वह अनेक कामोंके कारण कोई भी काम अच्छा न कर सकेगा और कई काम ऐसे रहेंगे जिन्हें वह कर ही न सकेगा। इसलिए आवश्यक है कि अपनी योग्यताके अनुसार प्रत्येक मनुष्य एक ही काममें लगे, शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्तिका कोई एक

ही काम ले। इस तरह उसमें वह कुशलता प्राप्त कर सकता है, और इसलिए उसे सरलतासे कर सकता है। इतना ही नही उसकी बनाई चीज़ें बहुत अच्छी हो सकती हैं। इससे एक लाभ यह होता है कि सब लोग एक दूसरेपर अवलम्बित रहते हैं, और इस कारण एक दूसरेसे बँधे रहते हैं। परिणाम यह हो सकता है कि सारे लोगोंमें, यानी उस समाजमें, उस राज्यमें, अच्छी एकता बनी रह सकती है। 'स्वे स्वे कर्मणि' अभिरत रहनेसे केवल संसिद्धि ही नही प्राप्त होती, बल्कि राज्यकी एकता भी दृढ़ होती है। एक एक कामके एक एक पुरुष-द्वारा सम्पन्न होनेसे अकारण और अनावश्यक होड़ दूर हो जाती है, और समाजमें बन्धनहीनता, कलह आदि नही देख पडती।

वासनाकी पूर्ति इस प्रकार हुई। इसमें मनुष्यके तमोगुण-का उपयोग हुआ। प्रत्येक राज्यको सम्पत्तिकी उत्पत्ति और वितरणका नियमन करना पड़ता है। परन्तु एक तो राज्य केवल साम्पत्तिक संस्था नहीं है, वह केवल तमोगुणी या केवल वासनात्मक नही है। उसमें राजसगुण, तेज, भी है। दूसरे, प्रत्येक राज्यको सम्पत्तिकी उत्पत्ति तथा रहनेके लिए भूमिकी आवश्यकता होती है। भूमिके प्रश्नोसे झगडे खडे होते है। उसकी रक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए योद्धाओंकी आवश्यकता होती है और इस तरह राजस-गुणका भी, तेजका भी, उपयोग है। प्रश्न यह है कि आवश्य-कताके अनुसार योद्धा इकट्ठे किये जायँ, अथवा वे ऐसे पुरुष हों जिन्होंने इसे अपना 'कर्म', अपना 'धर्म', बना लिया हो और जिन्हें इसकी उचित शिक्षा मिली हो ? यदि शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेके लिए इस बातकी आवश्यकता

है कि प्रत्येक पुरुष केवल एक काम करे और उसमें वह कौशल प्राप्त करे तो क्या यह आवश्यक नही कि योद्धा भी विशिष्ट पुरुष हों और वे अपने कार्यकी शिक्षा पाये हों ? यानी युद्ध करनेका काम कुछ लोग अपने ऊपर लें, उसे अपना कर्म, अपना धर्म, बनाये रहें । इस तरह वे भी अपने काममें कौशल प्राप्त करेंगे ।

परन्तु तेजसे इतना ही काम निष्पन्न नहीं होता । हम ऊपर कह चुके है कि तेज बुद्धिका सहायक है । क्योंकि उसके कारण अधर्म अथवा अन्यायसे द्वेष उत्पन्न होता है और धर्म या न्यायसे प्रेम होता है । इस कारण समाजमें, उस राज्यमें, बुद्धिको अपना काम करनेका अवसर प्राप्त हो सकता है । इतना ही नही, तेजको भी बुद्धिकी आवश्यकता है । तेजवान् पुरुषके हाथमें समाजकी रक्षाका कार्य है । रक्षकोंकी तुलना गृह-रक्षक कुत्तोंसे की जा सकती है । गृह-रक्षक कुत्ता घरके लोगोंसे बिलकुल नरम और शान्त रहता है । उनपर उसका प्रेम भी होता है । वह घरके कौन और पराये कौन, यह जान सकता है । यही बात रक्षकपर भी लागू होती है । उसे भी घरके लोगोंसे नरम और शान्त रहना चाहिए । अपने कौन और पराये कौन, यह पहचानना चाहिए । परायेके सामने तेज और अपनोंपर प्रेम दिखलाना चाहिए । तात्पर्य यह है कि तेजको बुद्धिकी और तज्जन्य ज्ञानकी आवश्यकता है । परन्तु बुद्धिका विशिष्ट शुद्ध काम नियमन या शासन है । इसलिए बुद्धिमान् पुरुष ही शासक हो सकते हैं । इन्हें यदि 'रक्षक' कहा जाय 'तो बुद्धिमान् रक्षक' कहना होगा, और पहले प्रकारके रक्षकोंको 'तेजोवान् रक्षक' कहना पडेगा । अथवा इन दोनोंको अनुक्रमसे 'वास्तविक रक्षक' और 'सहायक रक्षक' कह सकते है । बुद्धि अपने शुद्ध रूपमें भी दो

प्रकारका कार्य सम्पन्न करती है। एक तो उससे ज्ञान होता है, दूसरे उससे प्रेम उत्पन्न होता है, क्योंकि बुद्धिके विना ज्ञान नहीं और ज्ञानके विना प्रेम नहीं। 'वास्तविक रक्षकों' को जिस गुणकी आवश्यकता है वह है प्रेममूलक बुद्धि। उसे बुद्धिमान् ही होना यथेष्ट न होगा, उसमें प्रेम भी अवश्य चाहिए। जो लोग समाजकी अच्छी ख़बरदारी करते हैं, वही अच्छे शासक कहला सकते हैं। और वही अच्छी ख़बरदारी कर सकते हैं जिन्हें मालूम है कि समाजकी भलाई अपनी भलाई है तथा समाजकी बुराई अपनी बुराई है। यदि शासक इन विचारोंसे प्रेरित होकर कार्य करेंगे तो स्वार्थकी मात्रा उनमें रहेगी ही नहीं। वे सदैव शासितोंकी ही भलाई करेंगे। जिनमें ऐसी प्रवृत्ति उत्पन्न हो जायगी वे समाजको बिलकुल अपना समझेंगे और इस प्रकार उसमें एकता सम्पादित होगी। शारीरिक आवश्यकताओंके कारण परस्परावलम्बन पैदा होनेसे लोग भले ही परस्परकी परस्परके लिए आवश्यकता समझें और एकत्र रहनेकी आवश्यकता भले ही इस कारण पैदा हो। बाहरी आक्रमणोंसे बचानेकी आवश्यकताने भले ही इस बन्धनको और भी दृढ़ कर दिया हो। परन्तु वह बुद्धि ही है जिसके कारण वे एक दूसरेको जानते हैं और उनमें प्रेम पैदा होता है, और इस कारण वे एक दूसरेसे बँधे रहते हैं। केवल भौतिक वस्तुओंकी पूर्तिकी आवश्यकतासे अथवा बाहरी आक्रमणोंसे बचनेकी आवश्यकतासे कोई समाज दृढ़ नहीं हो सकता। विना बुद्धिके यह कार्य ठीक सम्पन्न नहीं हो सकता। बुद्धिसे अपने और परायेका ज्ञान होता है, उससे प्रेम उत्पन्न होता है, और इस प्रकार समाजका बन्धन खूब दृढ़ होता है—लोग एक दूसरेसे भले प्रकार बँधे रहते हैं।

शासकोंमें अपने कार्यकी योग्यता उत्पन्न होनेके लिए यह आवश्यक है कि उनका भी एक अलग स्वतन्त्र वर्ग रहे। सब ही मनुष्योंमें यथेष्ट बुद्धि और प्रीति नहीं होती। जिनमें बुद्धिकी प्रधानता होती है उनको अनेक प्रकारकी नीतिविषयक परीक्षाओं-द्वारा चुनकर उनके हाथमें शासनसूत्र देने चाहिए। इस तरह वे अपने कार्यमें कौशल प्राप्त कर सकते हैं। जाँचकी आवश्यकता एक और रीतिसे निष्पन्न होती है। अच्छे शासकको अच्छी बुद्धिकी आवश्यकता है, उसे बुद्धिमान्, धीमान् यानी 'दार्शनिक' होना चाहिए। अच्छे शासक चुननेके लिए केवल नीतिविषयक परीक्षासे काम न चलेगा—अच्छे शासकको बुद्धिविषयक परीक्षाओंमें भी उत्तीर्ण होना चाहिए। उसे न्याय (या धर्म), सौन्दर्य और संयमके तत्त्व जानने चाहिए, ताकि वह इन तत्वोंको शासितोंके आचरणमें उत्पन्न कर सके। इतनेसे ही काम न चलेगा। जिस मूल तत्त्वसे, जिस 'सत्' की कल्पनासे, ये सब तदङ्गभूत तत्त्व पैदा होते हैं, उनका उसे अच्छा ज्ञान चाहिए। सब कार्योंका और सारे लोगोंका मुख्य उद्देश क्या है, मनुष्योंके सारे कार्य किस मूल कारणसे किये जाते हैं और उनका जीवन किस प्रकार सफल हो सकता है, यह सब उसे जानना चाहिए। ऐसा ज्ञान हुए बिना वह लोगोंको उस ओर प्रवृत्त न कर सकेगा। सारी योजनाओंका मूल हेतु, मूल उद्देश, जाननेसे ही उसकी सिद्धिमें वह सहायक हो सकेगा। जिस कारण मनुष्यका मन जीवनकी समस्याके हल करनेमें लगा रहता है और उसके कुछ उपाय ढूँढ निकालता है, वह शासकमे दृष्टिगोचर होना चाहिए। जब वह तत्त्व शासकमें मूर्तिमान् दीख पड़े तभी वह सच्चा शासक हो सकता है, तभी समाज दृढ़ हो सकता है, और तभी सच्चे

राज्यकी सृष्टि होती है। ऐसी ही स्थितिमें मनकी उच्चतम आवश्यकता परिपूर्ण हो सकती है। सारांश, मानव-जीवनके उच्चतम उद्देशोंकी सिद्धिके लिए समाज तो चाहिए ही, परन्तु उसके शासक 'दार्शनिक' भी होने चाहिए। अन्यथा, राज्य भले ही एक साम्पत्तिक अथवा सैनिक संस्था जैसी संस्था देख पड़े, वह मनुष्यके उच्चतम उद्देशोंको पूर्ण करनेवाली बुद्धि-प्रवृत्त संस्था न होगी।

दूसरा अध्याय ।

इस आदर्श-समाजकी शिक्षा-पद्धति ।

अफ़लातूनने गुण-प्राधान्यके अनुसार अपने काल्पनिक समाजके जो तीन वर्गभेद किये उन्हें शिक्षा-द्वारा उनके कार्योंके योग्य बनाना आवश्यक है। विना शिक्षाके वे अपने कार्योंमें परम कौशल न प्राप्त कर सकेंगे। 'योगः कर्मसु कौशलं' तत्त्व ठीक है, परन्तु शिक्षाके विना उससे पूरा काम न होगा। मानसिक बुराइयोंको दूर करनेके लिए मानसिक उपाय चाहिए और शिक्षासे मानसिक बुराइयाँ, मानसिक व्याधियाँ, दूर हो सकती हैं। आगे चलकर इससे परम सत्यका ज्ञान हो सकता है और यह ज्ञान आत्म-ज्ञान ही है। नतीजा यह निकलता है कि केवल समाज और उसकी उन्नतिके लिए ही नहीं, आत्मोन्नतिके लिए भी शिक्षाकी आवश्यकता है। दिक्कालके परे, जीवन मृत्युके परे, जो परम सत्य है उसका ज्ञान करा देना शिक्षाका ही काम है, संसारकी क्षणिक बातोंमे भूल जाना ठीक नहीं।

इसका यह अर्थ नहीं कि हमें इस संसारके अपने कर्तव्य न करने चाहिए। अपने लोगोंके प्रति, संसारके प्रति, हमारे जो कर्तव्य हैं उन्हें कौशलपूर्वक करना ही चाहिए, 'आत्मानन्द'में पड़कर उन्हें भूल जाना ठीक नहीं। परन्तु उन्हीं बातोंमें मग्न होना और उनसे अपने उच्च उद्देशको भूल जाना भी अनुचित है। सारांश, समाजोन्नति और आत्मोन्नति दोनोंके लिए शिक्षाकी आवश्यकता है।

शिक्षाका महत्व अफलातूनके मनपर खूब अच्छी तरह जँचनेका कारण थी तत्कालीन यूनानकी अवस्था। आथेन्स और स्पार्टाकी राजकीय, सामाजिक, शिक्षा-विषयक आदि व्यवस्थाने अफ़लातूनके मनपर खूब गहरा प्रभाव डाला था। आथेन्समें शिक्षाकी व्यवस्था सरकारी न थी। इस विषयके लिए व्यवस्था ख़ानगी थी। इसके कई परिणाम हुए। पहले तो समाजके उद्देशसे उसके उद्देश मेल न खाते थे। व्यक्ति समाजके योग्य न होता था। अज्ञ और अयोग्य लोगोंके हाथोंमें शासन-सूत्र थे। इसका परिणाम हुआ अव्यवस्था जिसके कारण बाहरी आक्रमणोंके सामने सिर झुकाना पड़ा। स्पार्टामें शिक्षाका प्रबन्ध इससे बिलकुल भिन्न था। सात वर्षकी अवस्थामें स्पार्टन लड़का मा-बापसे ले लिया जाता था। उसकी शिक्षाका भार एक राज्य-पदाधिकारीके हाथमें था। यानी घरका, मा-बापका, अपने लड़केकी शिक्षापर कोई अधिकार न था, इस विषयका सारा अधिकार था राज्यके हाथमें। वहां व्यायाम द्वारा उसका शरीर दृढ़ बनाया जाता और उसे युद्ध-शिक्षा दी जाती। स्पार्टाको बहुधा युद्ध करने पड़ते थे। इस कारण वहांका राज्य लोगोंको इस कार्यके योग्य बनाता था। इस तरह लोग समाजके योग्य बनाये जाते थे। इस बातमें यहांतक सख्ती

थी कि लड़का घरके काम करने योग्य भले ही न बने, परन्तु राज्यके कामके योग्य उसे बनना ही चाहिए। इस कठोर पद्धतिका अमल पुरुषोंपर ही नहीं, स्त्रियोंपर भी होता था। और वह भी यहांतक कि पति और पत्नी स्वतन्त्रता-पूर्वक दम्पति जैसे न रह सकते थे एवं शैशवावस्था पूर्ण होते ही बच्चे उनसे छीन लिये जाते थे। जायदाद-सम्बन्धी अधिकारोंकी भी यही हालत थी। धनिकोंकी नाईं उनकी भूमि पराधीन जाति-द्वारा जोती जाती थी और उनकी जीविका चलती थी। इस प्रकार पत्नी-पुत्रादि और दाल-रोटीकी चिन्तासे मुक्त होकर वे अपना सारा समय राज्योपयोगी शिक्षा प्राप्त करनेमें लगाते थे। सारांश, कौटुम्बिक जीवन नितान्त गौण था और सामाजिक यानी राजकीय जीवन ही परमप्रधान था। इन दो शिक्षा-पद्धतियोंमें दोष और गुण दोनों थे। आथेन्समें ख़ानगी व्यवस्थाके कारण यानी सरकारी हस्तक्षेपके अभावसे व्यक्तिकी बहुत उन्नति हो सकती थी, परन्तु वह समाज-योग्य न बनता था। इतना ही नहीं, समाजके और उसके उद्देशोंका मेल न बैठता था। स्पार्टामें व्यक्ति समाजकी आवश्यकताओंको पूर्ण करने योग्य अच्छी तरह बनाया जाता था, परन्तु उस पद्धतिमें आत्मोन्नतिका विचार था ही नहीं—व्यक्तिगत उद्देशोंकी और भौतिक ही नहीं, मानसिक आवश्यकताओंकी पूर्ति होना उसमें असम्भव था। इन दोनों पद्धतियोंके गुणोंको एकत्र करनेका उपाय अफ़लातूनने किया है।

थोड़ेसे स्थानमें अफ़लातूनकी शिक्षा-पद्धतिका, और साथ ही, शिक्षापद्धतिसे सामाजिक और आत्मिक उन्नतिका, विवेचन करना कठिन है। तथापि उसकी सामाजिक व्यवस्था समझनेके लिए उसका कुछ विचार करना आवश्यक है।

शिक्षासे पुरुषको सामाजिक तथा आत्मिक उन्नतिके योग्य बनना चाहिए। केवल सामाजिक उन्नतिका ख्याल रखनेसे आत्मिक उन्नति न होगी। उसी प्रकार केवल आत्मिक उन्नतिका ख्याल रखनेसे सामाजिक उन्नति न होगी और समाजके जल्द नष्ट हो जानेका डर है। इसलिए दोनो प्रकारकी उन्नति शिक्षा-द्वारा होनी चाहिए। परन्तु दो दृष्टियोंसे आत्मिक उन्नति प्रधान है। एक तो आत्मिक उन्नति ही मनुष्यजीवनका ध्येय है, समाज और सामाजिक उन्नति साधन है। दूसरे, आत्मिक उन्नतिका एक अर्थ यह है कि व्यक्तिके विशिष्ट गुणोंका विकास होना चाहिए। व्यक्तिके विशिष्ट गुणोंका विकास समाजके लिए हितकारक ही है।

व्यक्तिमें विशिष्ट गुण हैं, इसका अर्थ यह है कि मनुष्यका मन कुछ विशिष्ट दिशाओंमें अधिक दौड़ता है, दूसरी दिशाओंमें कम। इसका कारण कदाचित् पूर्व्वजन्मका संस्कार हो। मन ही अपने योग्य सामग्री ढूँढ लेता है—उस सामग्रीके सामने आते ही मन उसकी ओर दौड़ता है। इससे हम मनका झुकाव जान सकते हैं और उसके प्रधान गुणोंको पहचान सकते है। फिर शिक्षकका काम क्या है? शिक्षकका काम इतना ही है कि वह इन गुणोंको विकसित करे। यही आत्मिक उन्नतिका मूल है। परन्तु यह विकास किसी ख़ास कालके भीतर समाप्त नहीं होता। यह जन्मभर जारी रहता है। इसलिए शिक्षाका कार्य भी जन्मभर चलना चाहिए। जब तक बाहरी वस्तुओंके प्रति मनुष्य खींचा जा सकता है, जब तक उनका उसके मनपर परिणाम होता है, तब तक उसमें शिक्षा-क्षमता है। सिद्धान्त यह निकलता है कि शिक्षाका कार्य बालपनमें समाप्त नहीं होता, प्रौढ़ावस्थामें भी उसके लिए

स्थान है। यदि पहली अवस्थामें मनके विकार और कल्पनाओंको नियमित करनेकी आवश्यकता है तो अगली अवस्थामें शास्त्रके शासन-द्वारा बुद्धिको उचित मार्ग दिखलानेकी आवश्यकता है। आगे चल कर दर्शनशास्त्र-द्वारा पहले प्राप्त किये ज्ञानका परस्पर सम्बन्ध जाननेकी तथा मानवजीवन, मानव-अनुभव और कार्योंके मूल उद्देशका बोध होनेकी आवश्यकता है। सारांश, शिक्षाके लिए वयोमर्यादा निश्चित करना कठिन है। किसी एक वयोमर्यादाके समाप्त होनेसे शिक्षाका क्रम समाप्त नहीं होता। जिनमें योग्यता है वे आगे भी उसे चला सकते हें। अफ़लातूनका कहना है कि पैंतीस वर्ष तक कोई नागरिक शासक बनने योग्य नहीं होता। तबतक यह नही कहा जा सकता कि वह इस कार्यके योग्य शिक्षा पा गया। तदनन्तर पन्द्रह वर्षतक वह शासनका कार्य करे। इसके बाद वह दर्शनशास्त्रका पुनः अभ्यास करे और मानवजीवनके प्रश्नोंपर विचार किया करे। इसी प्रकार उसे आत्मप्रकाश प्राप्त होगा और आत्मोन्नतिका कार्य पूरा हो सकेगा।

ऊपर कह चुके हैं कि बाहरी वस्तुओंके आघातप्रत्याघातसे मनकी उन्नति होती है और पूर्व संस्कारोंके कारण मन विशिष्ट वस्तुओंकी ओर दौड़ता है। राज्यका भी पूर्वानुभव उसे होना ही चाहिए और इस कारण राज्यकी ओर उसका मन दौड़ना ही चाहिए। यानी दूसरे अनुभव तो उसे प्राप्त करने ही होंगे, परन्तु राजकीय अनुभव भी उसे प्राप्त करने होंगे। इनके बिना उसकी शिक्षा पूर्ण न होगी। यानी मनुष्यको इन तमाम अवस्थाओंसे, इन तमाम अनुभवोंसे, पार जाना चाहिए। परिपूर्ण मानसिक उन्नतिके लिए यह नितान्त

आवश्यक है। इसलिए मानवीय व्यवहार और सिद्धान्तमें कोई भेद नहीं हो सकता। सारा व्यवहारात्मक अनुभव और सिद्धान्तात्मक ज्ञान हमारी शिक्षाके अविभाज्य भाग है। उन दोनोको प्राप्त करना हमारा काम है, क्योंकि दोनों मनकी आवश्यकताओंको पूर्ण करते है। इसलिए मनुष्य-जीवन और राज्यका परस्पर बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। अब यह स्पष्ट हो गया होगा, जिसका उल्लेख ऊपर हम दो एक स्थानपर कर चुके है, कि राज्यके बिना यानी समाजके बिना मनुष्यकी उन्नति नहीं हो सकती। यदि मनुष्यके मनकी आवश्यकताको पूर्ण करनेके लिए समाजकी रचना की गयी है, यदि मानवीय मनके स्वरूपमें ही समाजकी आवश्यकता रक्खी गयी है, तो हम यह कह सकते हैं कि उसके बिना मानव-मनका विकास नही हो सकता।

अब अफ़लातूनने शिक्षाकी जो योजना दी है उसका वर्णन करना चाहिए। शिक्षाकी योजनाका स्वरूप वयके अनुसार तथा मनुष्य-वर्गके अनुसार भिन्न होगा। वयके अनुसार अफ़लातूनने शिक्षाके दो क्रम माने है। जवानीके आने तककी अवस्था प्रथम क्रमका काल है। इसमेंसे प्रत्येक सहायक रक्षक यानी योद्धाको पार जाना पड़ेगा। इसलिए स्वाभाविक मनोविकारोंका नियमन इस शिक्षाका भाग होगा ही, परन्तु सैनिक-शिक्षा भी उसका प्रधान अङ्ग रहेगा। और मनोविकारोका नियमन इस ढङ्गसे होगा कि वह उत्तम सहायक रक्षक यानी योद्धा हो सके। इसलिए इस शिक्षाका स्वरूप प्रधानतः सामाजिक होगा। इसके लिए जो पाठ्यक्रम बनाया है वह आथेन्सके पाठ्यक्रमको काट-छांट कर बनाया गया जान पड़ता है। आथेन्सके व्यायाम, पठन-पाठन और सङ्गीतके स्थानमें

अफलातूनने दो ही विषय, व्यायाम और सङ्गीत बताये हैं। परन्तु आथेन्समे इन विषयोंसे जो बोध होता था उससे कुछ भिन्न अर्थमें ही अफलातूनने इनका उपयोग किया है। व्यायाम-का अर्थ शरीरकी सब तरहकी खबरदारी है। उसमें भोजन और चिकित्सा भी शामिल है। यानी उसकी शिक्षामें यह भी बतलाना चाहिए कि क्या भोजन किया जाय, शरीरकी खबरदारी किस प्रकार की जाय, ताकि वैद्यकी आवश्यकता ही न रहे। इसी प्रकार सङ्गीतमें अन्य कई बातें उसने शामिल कर ली है। उसमें पठन-पाठन तो शामिल है ही, परन्तु कई गति-मूलक कलायें भी शामिल हैं। यदि कोई कहे कि 'व्यायाम' से शारीरिक शिक्षा सम्पन्न होती है और 'सङ्गीत' से मानसिक शिक्षा, तो अफलातूनका कहना है कि दोनोंसे मानसिक शिक्षा-का उद्देश सिद्ध होता है। दोनोंका उद्देश नैतिक है। व्यायाम-द्वारा जो शारीरिक शिक्षा मिलती है उससे वास्तवमें मानसिक शिक्षा ही सम्पन्न होती है। क्योंकि उससे सहिष्णुता और धैर्य-का विकास होता है। तेजोगुण उससे कुछ नरम होता है। और यही व्यायामका मुख्य उद्देश है। इस प्रकार शिक्षित पुरुष अपने 'धर्म' यानी 'कर्म' को यथोचित सम्पन्न कर सकता है। इस दृष्टिसे यह सामाजिक शिक्षा हुई। परन्तु सङ्गीतको न भूलना चाहिए। व्यायामसे मनका अप्रत्यक्ष विकास होता है, तो सङ्गीतसे प्रत्यक्ष होता है। इससे भी तेजोगुणका नियमन होता है। इतना ही नहीं, उससे बुद्धि भी जाग्रत होती है। माना कि उससे शास्त्रीय ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता, परन्तु उससे उचित क्या है, अनुचित क्या है, इसका ज्ञान अवश्य हो सकता है। प्राथमिक मनोविकारात्मक मनको वह नरम बनाता है। जो जो कार्य करते हैं उन्हें कैसा करना चाहिए, यह वह

बतला सकता है, उनके विषयमें उसकी कुछ धारणा बन सकती है। और इस धारणाके बलपर वह कार्य-कारण सम्बन्ध जाने बिना भी अपने कार्य उचित रीतिसे कर सकता है। गति-मूलक कलाओंसे उचित कार्य करनेकी प्रवृत्ति पैदा होती है और इस प्रकार उनसे नीतिकी शिक्षा मिलती है। 'सङ्गीत'-द्वारा यह कार्य अच्छी तरह सिद्ध हो सके, इसलिए उसने तदन्तर्गत विषयों और कलाओंके अनेक सिद्धान्त बताये हैं और उनमें अनेक सुधार सुझाये हैं। उनसे हमें यहां विशेष वास्ता नहीं। इन विषयोंको उसने ऐसा स्वरूप देनेका प्रयत्न किया है जिससे मनुष्यके मनकी आवश्यक नैतिक उन्नति हो और वह अपना (योद्धाका) कार्य अच्छी तरह कर सके।

अबतक हमने प्राथमिक अवस्थाकी शिक्षाका विचार किया। अब हमें प्रौढ़ावस्थाकी शिक्षाका विचार करना चाहिए।

यहाँ कलाकी शिक्षाके बदले शास्त्रकी शिक्षा बतलायी गयी है। गणितशास्त्र और अध्यात्मशास्त्रकी उच्च शिक्षा प्रौढ़ावस्थाके लिए प्रतिपादित हुई है। वास्तवमें यह आथेन्सकी योजनाका सुधारा हुआ स्वरूप है। अफ़लातून अपनी 'एकेडेमी'में गणित शास्त्र और अध्यात्मशास्त्र सिखलाता था। ऊपर कह ही चुके हैं कि प्रथमावस्थाकी शिक्षाका विशेष उद्देश समाजोन्नति था, आत्मोन्नति नहीं। आत्मोन्नतिका जो कुछ समावेश उसमें था वह समाजोन्नतिकी दृष्टिसे ही था। प्रौढ़ावस्थाकी शिक्षामें शास्त्रोंके अध्ययनपर जोर दिया गया है और इसलिए आत्मोन्नतिका ख़्याल अधिक देख पड़ता है, समाजोन्नतिका कम। परन्तु इन दो अवस्थाओंकी शिक्षाके स्वरूपोंमें जो भेद है वह बहुत अधिक नहीं है। प्रथमावस्थाकी शिक्षासे

धीरे धीरे मनकी तैयारी शास्त्रके अध्ययनके लिए हो सकती है। इतना ही नहीं, मनोविनोदके रूपमें अङ्कगणित, रेखा-गणित और इतर शास्त्रोंकी मोटी मोटी बातोंको उस समय सिखलानेके लिए अफ़लातूनने कहा है। इस प्रकार शास्त्रोंका गहन अभ्यास करनेकी तैयारी हो सकती थी और इस प्रकार यह भी जाना जा सकता था कि किन किनमें शास्त्राध्ययनकी योग्यता है। बीस वर्षकी अवस्थातक पहले प्रकारकी शिक्षा प्राप्त करनेपर पुरुष आगे बढ़नेके लिये तैयार हो सकता था। पहले पहल इन्द्रियगम्य बातोंका अध्ययन विशेष है। अङ्क-गणितमें पहले पहल केवल विचारगम्य बातें आती हैं। इससे रेखागणित समझनेमें सहायता मिलती है। इस प्रकार धीरे धीरे केलव विचारगम्य बातोंकी ओर शिक्षार्थी बढ़ सकता है। और अत्यन्त उच्च विद्या यानी दर्शनशास्त्रके समझनेकी इस प्रकार उसकी तैयारी हो सकती है। बीस वर्षकी अवस्थाके बाद दो सालतक सैनिक शिक्षा भी देनी चाहिये और इसी अवस्थाके बाद ऊपर बताये शास्त्रोंका अभ्यास भी होना चाहिये। परन्तु इन शास्त्रोंका अभ्यास सब न करें, केवल वही करें जिन्हें इनमें रुचि हो। शासनके लिए जो लोग चुने जायेंगे वे इन्हीमेंसे होंगे। तीससे पैंतीस वर्षतक तत्वज्ञान (इसमें कई विषय शामिल हैं) का अभ्यास कराया जाय और शासन-कार्यके योग्य पुरुषोंकी भिन्न भिन्न प्रकारसे जाँच की जाय। फिर वे पन्द्रह वर्षतक राज्यकी यानी समाजकी सेवा करें। इस कार्यमें उन्हें अनेक अनुभव प्राप्त होंगे और धीरे धीरे वे उच्चतम उद्देशकी पूर्तिके लिए तैयार होंगे। पचास वर्षकी अवस्थाके बाद वे इस कार्य-योग्य बन जायँगे। वे फिर अपना कुछ समय चिन्तन-मननमें बितावें और कुछ समय समाज-सेवाके लिए दें। उनका कर्तव्य

होगा कि उन्होंने जो कुछ ज्ञान और अनुभव प्राप्त किया है उससे समाजको लाभ पहुँचावें, ताकि पीढ़ी दरपीढ़ी समाज-की उन्नति होती रहे।

प्रथमावस्थाकी शिक्षाके बाद शास्त्रोंका अभ्यास शुरू होता है। फिर चुने हुए लोगोंका शास्त्रोंका अभ्यास दस वर्षतक चलता है। तदनन्तर उनमेंसे चुने हुए पुरुषोंका पाँच वर्ष-तक दर्शनशास्त्रका अभ्यास होता है। इन्हींमेंसे शासन-कार्यके लोग अनेक परीक्षाओंके बाद चुने जाते हैं। ये परीक्षाएँ बहुधा नैतिक स्वरूपकी हैं। यानी अफलातूनकी समाज-व्यव-स्थामें शासक-गण दार्शनिक हैं। उनकी नैतिक और बौद्धिक तैयारी इतनी हो जायगी कि उनके हाथमें समस्त राज्य-शासन दे देनेसे कोई हानि न होगी। उनके लिए किसी प्रकारके नियमों अथवा कायदोंकी आवश्यकता न रहेगी। वे ऐसे ही स्थितप्रज्ञ और बुद्धिमान् पुरुष होंगे कि उन्हें न तो कुछ बतलानेकी जरू-रत रहेगी और न उनके आचरणको नियमित करनेकी आव-श्यकता होगी। ऐसे उत्तम पुरुष चुन लेनेपर बिना किसी प्रकारके डरके राज्यसूत्र उनके हाथमें दिया जा सकता है। उनके हाथसे राज्यकी भलाई ही होगी, बुराई कभी नहीं।

ऊपरकी व्यवस्थामें शिक्षा-प्रबन्धका सारा कार्य राज्यको अपने ऊपर लेना पड़ता है और ऐसा जान पड़ता है कि यही उसका प्रथम और एकमेव कार्य है। इस दृष्टिसे राज्य एक शिक्षा-संस्था ही बन जाता है। ऐसी संस्थाके मार्गदर्शक ज्ञानवान् पुरुष होने चाहिए। और दार्शनिक ही सच्चे ज्ञानवान् पुरुष कहे जा सकते हैं, इसलिए यह सिद्धान्त निकलता है कि दार्शनिक ही राज्यका काम चलावें। ये लोग बुद्धि और नीति-से कसे-जँचे रहेंगे और इस कारण राज्यमें झगड़े-फसाद होने

का नामको भी डर न रहेगा। अज्ञता, अयोग्यता और स्वार्थ-परताका राज्य इसी प्रकार नष्ट हो सकता है।

ऊपर बतला ही चुके हैं कि अफलातूनके दार्शनिक शासकों-पर किसी प्रकारके कायदे-कानून न रहेंगे। शासनकी सारी व्यवस्थाके कर्त्ता-धर्त्ता वही रहेंगे। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि राज्यके मूल उद्देशोंको वे बदल सकते हैं। राज्यको दरिद्र या धनी बनाना मूल उद्देशके विरुद्ध होगा। राज्यका विस्तार बदलना उचित न होगा*। धर्म अथवा न्यायका शासन अटल रहेगा, यानी प्रत्येक पुरुष कोई एक खास काम करेगा। शिक्षा-पद्धतिमें भी कोई परिवर्तन न हो सकेगा। यहांतक कि सङ्गीत-के प्रकार भी न बदले जा सकेंगे। शिक्षाके ऊपर सारा दारम-दार है। उचित शिक्षासे राज्य-व्यवस्था शान्तिपूर्वक चल सकती है। इसलिए शिक्षाकी व्यवस्थाका सारा कार्य राज्य अपने ऊपर लेता है, और इस कार्यके सम्पादनकी व्यवस्था करनेमें राज्यका स्वरूप शिक्षा-संस्था जैसा हो जाता है। यह बात हम ऊपर बतला ही चुके हैं। दार्शनिकोंके सिरपर कोई कायदा-कानून तो अफलातूनने नहीं रक्खा, परन्तु उपरिलि-खित चार बातोंमें उनका अधिकार नियन्त्रित करना ही पड़ा। इसके बिना, राज्यका स्वरूप और उद्देश बदल जायँगे, और उनके बदल जानेपर वे पुराने झगड़े-फसाद पुनः शुरू होंगे। अन्तमें यह होगा कि जिस उद्देशके लिए राज्य और समाजकी आवश्यकता है, वही नष्ट हो जायगा। इसलिए इन चारों

*अफलातूनके राज्यका विस्तार न बहुत बड़ा रहे, और न बहुत छोटा। वह ठीक इतना बड़ा रहे कि उसमें एकता बनी रह सके। एक हजार योद्धा इसके लिए काफी होंगे। हां, उत्पादकवर्गकी संख्या इससे बहुत अधिक होगी। ये सब मिलकर राज्यकी जनता होंगे।

बातोंमें उनका अधिकार नियन्त्रित है, इन चारो बातोंको वे बदल नही सकते। राज्यकी शेष बातोपर उनका पूरा पूरा अधिकार रहेगा!

तीसरा अध्याय।

एक-कुटुम्ब-पद्धति।

नितान्त नवीन शिक्षा-पद्धति-द्वारा समाजका सुधार हो गया और धर्म अथवा न्याय और आत्मिक उन्नतिके नामसे शासनका स्वरूप बदल दिया गया। परन्तु इतनेसे ही काम नही चलेगा। ममत्वका पिण्ड जबतक पीछे लगा रहेगा तब-तक प्रलोभन सताते ही रहेंगे, स्वार्थकी प्रवृत्ति बनी ही रहेगी और इस कारण कलहका कारण भी बना रहेगा। ममत्वको दूर करनेसे ये सब दूर हो जाते है। ममत्वका सम्बन्ध दो बातो-से होता है, एक तो पत्नी-पुत्रसे और दूसरे माल-मिल्कियतसे। समाजके लिए सन्तति तथा सम्पत्तिकी आवश्यकता है तो जरूर, पर यदि इनपर व्यक्तिगत ममत्वका अधिकार न रहे तो सारे झगड़ेका मूल मिट जायगा और समाजकी आव-श्यकताओंकी पूर्ति भी हो जायगी। बस, इसीलिए अफला-तूनने सम्मिलित कुटुम्बपद्धति बतायी है।

अफलातूनकी एक-कुटुम्ब-पद्धति यूनानमें बिलकुल नई बात न थी। पहले पहल भूमिपर सभीका अधिकार कई स्थानोमें था। आथेन्समे निजकी सम्पत्ति होनेपर भी उसपर

राज्यका कुछ अधिकार अवश्य था। स्पार्टामें तो व्यक्तिकी सम्पत्तिपर समाजका और अधिक अधिकार था। क्रीट नामक टापूमे भी ऐसी ही बात थी। सार्वजनिक भोजनालय कई राज्योंमें थे और उसके लिए लोगोंको अपनी सम्पत्ति-मेंसे कुछ हिस्सा चन्देके रूपमें देना होता था। इतना ही नहीं सिद्धान्तकी दृष्टिसे भी यह कल्पना नितान्त नई न थी। पाय-थोगोरस नामक तत्त्ववेत्ताने उससे बहुत पहले एक तरहके समाजका प्रतिपादन किया था और उसमें सबकी जायदादपर सबका अधिकार बतलाया था। आथेन्समें यह सिद्धान्त इससे भी आगे बढ़ गया था। गुलामीकी प्रथाका तथा सभ्यता पूर्ण जीवनकी रीतियो आदिका खण्डन किया जा रहा था और प्राकृतिक जीवनकी महिमा बतायी जा रही थी। इससे स्त्री-विषयक एक-कुटुम्ब-पद्धतिकी कल्पना उत्पन्न हुई थी। फिर सम्पत्ति-विषयक एक कुटुम्ब-पद्धतिकी कल्पना कोई कठिन बात न थी। परन्तु इतना स्मरण रखना चाहिए कि प्राकृतिक जीवनका प्रतिपादन करनेके लिए ही अफलातूनने एक-कुटुम्ब-पद्धतिका प्रतिपादन नहीं किया। उसने स्त्री-विषयक एक-कुटुम्ब-पद्धतिके प्रतिपादनके लिए प्राकृतिक जीव-नका प्रमाण दिया अवश्य है, परन्तु सम्पत्ति-विषयक एक-कुटुम्ब-पद्धतिके प्रतिपादनके लिए उसने नैतिक प्रमाणोंका उपयोग किया है। हम ऊपर बतला ही चुके हैं कि अफलातून के धर्म या न्यायका अधिकार अक्षुण्ण बना रहे, इसके लिए आवश्यक है कि उसके रक्षक और शासक स्वार्थपरतासे दूर रहें। इस कल्पनाके कारण व्यक्ति एक भिन्न पुरुष न रह गया, वह अब समाजका एक अङ्ग हो गया। प्रत्येकको उसके विशेष गुणानुसार एक काम सौंप दिया गया है। सहायक रक्षक

तेजो-गुण प्रधान होनेके कारण योद्धाका काम करेंगे, तो वास्तविक रक्षक सत्वगुणप्रधान होनेके कारण शासनका कार्य करेंगे। वासनाको उन्हें दूर करना होगा। वासना तीसरे वर्गका गुण है और उससे 'अयं निजः परः' की कल्पना होती है। यदि तेज और सत्व जैसे उच्च गुणोंका उपयोग समाजके लिए करना है तो सम्पत्ति-विषयक कल्पनासे उन्हें दूर रहना चाहिए। 'वसुधैव' नही तो कमसे 'समाजैव कुटुम्बकं' की कल्पनाके अनुसार उन्हें चलना चाहिए। नहीं तो वासना उन गुणोंको धर दबावेगी। बुद्धि तो जरूर ही दब जायगी और स्वार्थका बल बहुत ही बढ़ जायगा। क्योंकि बुद्धि और स्वार्थसे मेल हो ही नही सकता। बुद्धिका अर्थ ही स्वार्थहीनता है। जिसमें बुद्धि प्रदर्शित होगी वह स्वार्थको दूर कर सारे समाजमें अपनेको मिला देगा—वह समाजका एक अङ्ग बन जायगा। सम्पत्ति-सम्बन्धी एक-कुटुम्ब-पद्धतिकी आवश्यकताका यह मनो-विज्ञान-मूलक प्रमाण हुआ। परन्तु इसके लिये व्यावहारिक और राजकीय सबूत भी है। व्यावहारिक प्रमाण तो यही है कि धन और शासनाधिकार एकत्र होनेसे समाज और राज्यकी गाडी ठीक नहीं चल सकती। तत्कालीन राज्य और समाज ही इसके उदाहरण थे। इन दो अधिकारोंके एकत्र होनेसे लोगोंने अपनी तुम्बड़ी भरनेकी प्रवृत्ति सदैव दिखलाई। दूसरा परिणाम यह भी हुआ कि लोग शासकोंकी स्वार्थपरताके कारण उनसे बिगड़ बैठते और इस प्रकार राज्यमे झगड़े-फसाद पैदा हो जाते—एकके दो राज्य हुएसे दीख पडते। इसलिए आवश्यक है कि दोनों प्रकारके रक्षक सम्पत्तिके झगडोंसे दूर रहें। हाँ, तीसरा वर्ग ऐसा नही हो सकता। उनकी सृष्टि ही वासनाके आधारपर है। इसलिए वे निजी सम्पत्तिसे हीन नही किये

जा सकते । तथापि उनकी सम्पत्तिपर भी राज्यका यथेष्ट नियन्त्रण रहना चाहिए, कोई अत्यन्त दरिद्री या बहुत धनी न होने पावे । वे ही नियत समयपर राज्यके कामोंके लिए द्रव्य दें । यह स्पष्ट ही है कि इसीसे दोनों प्रकारके रक्षकोंका पालन-पोषण होगा ।

ऊपर कहा जा चुका है कि अफलातूनकी एक-कुटुम्ब-पद्धतिका दूसरा भाग स्त्रियोंसे सम्बन्ध रखता है । हम यह दिखला ही चुके हैं कि यदि किसीका किसी विशिष्ट स्त्रीपर पतिके नाते स्वतन्त्र और परिपूर्ण अधिकार रहा तो निजकी जायदादका प्रलोभन उत्पन्न हुए विना न रहेगा । एक विषयकी ममतासे दूसरे विषयकी ममता उत्पन्न हुए विना न रहेगी । अपनी पत्नीको दूसरोंसे अच्छी दशामें रखने और बालबच्चोंके लिए कुछ रख छोड़नेकी इच्छा होना स्वाभाविक है । इससे अनेक प्रलोभन उत्पन्न होंगे और व्यक्तिगत सम्पत्तिकी व्यवस्था न रहनेपर भी वह अस्तित्वमें अवश्य आ जायगी । और उसके साथ वे सारी बुराइयाँ भी समाजमें आ जायँगी जिन्हें दूर करनेका प्रयत्न अबतक किया गया । अफलातूनको ऐसा जान पड़ा कि लोगोंको सम्पत्ति-विषयक एक-कुटुम्ब-पद्धति बिलकुल अनोखी नहीं मालूम होगी परन्तु स्त्री विषयक एक कुटुम्ब-पद्धतिको लोग बड़ी विचित्र बात समझेंगे । इसलिए उसने इसके प्रतिपादनमें बहुत अधिक स्थान दिया है । परन्तु जैसा हम ऊपर कह आये हैं, सिद्धान्त और व्यवहार दोनों दृष्टियोंसे यह भी कल्पना यूनानियोंके लिए विलक्षण नहीं कही जा सकती । इस बातकी कल्पना किसी न किसी कारणसे कई लोग प्रतिपादित कर चुके थे कि स्त्रियोंपर व्यक्तिगत अधिकार न रहे ।

व्यवहारमें भी कई जगह स्त्रियोंपर पतियोंके पूरे पूरे अधिकार न थे। स्पार्टामें सन्तति उत्पन्न करनेके लिए नियोग-पद्धतिका प्रचार था । हम यह बतला ही चुके हैं कि सात वर्षके होनेपर बच्चे मा-बापसे ले लिये जाते थे और सरकारी घरोंमें उनके पालन-पोषण-शिक्षा आदिका कार्य होता था । सारे यूनानमें उस समय स्त्रियोंके एक उपयोगपर सिद्धान्त और व्यवहार दोनों दृष्टियोंसे बहुत जोर दिया जाता था। वह उपयोग है सन्ततिकी उत्पत्ति । राज्यके लिए सन्ततिकी आवश्यकता थी। यह उपयोग अफलातूनको भी मानना पड़ा। सन्ततिके बिना राज्य चल ही नहीं सकता। इसलिए स्त्रियों द्वारा सन्तति अवश्य उत्पन्न की जाय। परन्तु यह दाम्पत्य-पद्धति द्वारा नहीं। दाम्पत्य-पद्धतिमें निजके धनकी आवश्यकता बनी रहेगी, उससे स्वार्थ पैदा होगा और स्वार्थ मनुष्यसे क्या नहीं कराता ? इसलिए स्वार्थका मूल ही नष्ट कर दिया जाय। दाम्पत्य-पद्धति रह ही न जाय—राज्य ही एक कुटुम्ब हो जाय, स्त्रियाँ राज्यकी स्त्रियाँ रहें, उनमेंसे किसी एकपर किसी एकका अधिकार न रहे, नियमित रीतिसे चाहे जिससे चाहे जो पुरुष सम्बन्ध रख सके।

परन्तु केवल इसी दृष्टिसे स्त्री-विषयक एक-कुटुम्ब-पद्धतिका प्रतिपादन उसने नहीं किया है। उसके सामने एक दो प्रश्न और हैं। क्या समाजके लिए स्त्रियोंका इतना ही उपयोग है ? क्या इससे अधिक समाज-सेवा वे नहीं कर सकती ? और क्या उनकी आत्मिक उन्नतिकी आवश्यकता नहीं है ? क्या उनकी आत्मिक उन्नतिसे समाजको लाभ न होगा ? क्या घरके अन्धकारमें पड़े रहना, भोजन बनाना, वस्त्र बुनना या सीना, और बच्चे उत्पन्न करना ही उनका काम है ? स्त्री और पुरुषमें

भेद है ही क्या ? भेद केवल है लिङ्ग विषयका। इस विषयका काम स्त्री और पुरुष दोनों करेंगे ही, फिर उनमें और क्या भेद है ? स्त्रियाँ शायद तेज, बुद्धि आदिमें पुरुषोंसे कुछ हीन होगी। परन्तु इतनी थोडी हीनतासे उनमें महदन्तर नहीं हो जाता। दोनों करीब करीब समान हैं। हाँ, एकमें इन गुणोंका जोर अधिक और एकमें कम है। और क्या पुरुषोंमें इन गुणोंका जोर कम अधिक नही देख पड़ता ? फिर स्त्रियोने ही क्या किया है जो उन्हें राज्य-रक्षण-कार्यमें भाग लेनेका अवसर न दिया जाय ? वे भी पुरुषोंकी नाईं शिक्षा पा सकती हैं। शायद उनमें आवश्यक गुणोंका खूब विकास न होगा। न सही, थोडी हीनतासे वे राज्यके कामके लिए बिलकुल अयोग्य नही हो जातीं। वे भी राज्य-रक्षाका भार पुरुषोंके कन्धोंसे कन्धा लगा कर अपने ऊपर ले सकती हैं। वे भी राज्यकी सेवा कर सकती हैं।

✓ अब यदि कोई प्रश्न करे कि स्त्रियोंके सन्तति उत्पन्न करनेके तथा समाज-सेवाके कार्योंका मेल कैसे हो सकता है ? ये दोनों कार्य वे कैसे कर सकती हैं ? तो इसपर अफलातूनका उत्तर यह है—राज्यके रक्षकोंके निजी घर है ही नही। उन्हें सरकारी घरोंमें रहना होगा। स्त्रियाँ भी सरकारी घरोंमें रहेंगी। ऐसी स्थितिमें उन स्त्री-पुरुषोंमें परस्पर सम्बन्ध हुए बिना न रहेगा। इस सम्बन्धको नियमित करनेसे दोनों बातें सिद्ध हो सकती हैं। अच्छे माता-पिताओंके बच्चे अच्छे सशक्त होते हैं। इसलिए रक्षकोंमेंसे जो अच्छे सशक्त पुरुष हों उनका सम्बन्ध कुछ नियत कालके लिए कुछ विशिष्ट स्त्रियोंसे कर दिया जाय। इसे अल्पकालिक विवाह ही समझिए। ऐसे सम्बन्धसे जो बच्चे होंगे उनके पालन-पोषणका भार

राज्यपर होगा। उत्पत्तिके बाद कोई जानेगा ही नहीं कि कौन किसकी संतति है, इसलिए बच्चोंके कारण कोई झगड़े न होंगे। कोई एक बच्चा किसी खास स्त्री या पुरुषका न कहला सकेगा। सभी बच्चे सभी स्त्री-पुरुषोंके होंगे और उनमें बन्धुत्वकी कल्पना बनी रहेगी। सब पुरुष अपनेको उनके पिता समझेंगे और सब स्त्रियोंके हृदयमें उनके प्रति मातृत्वकी भावना उत्पन्न होगी। इस प्रकार राज्यका एक कुटुम्ब बन जायगा। सन्ततिका प्रबन्ध हो गया, सब स्त्रियोंको भी समाज-सेवा करनेका अवसर मिल गया और उनकी आत्मिक उन्नतिके मार्गकी बाधा दूर हो गयी। राज्य 'मातृभूमि, और 'पितृभूमि' वास्तवमें बन गया। इस प्रकार राज्यमें सदैव एकता भी बनी रहेगी।

अच्छी सन्ततिकी दृष्टिसे अफलातूनने कुछ अधिक बातें बनायी हैं। अच्छी सन्तति भरपूर जवानीमें ही उत्पन्न हो सकती है। इसलिए पुरुष पचीससे पचासतक और स्त्रियाँ बीससे चालीस वर्षतक सन्तति उत्पन्न करें। इस अवस्थाके पहले या बादमें होने वाली सन्ततिको उत्पन्न ही न होने देना चाहिए। राज्यकी स्थिरताके लिए यह भी आवश्यक है कि मनुष्य-संख्या भी स्थिर रहे, वह बढ़ने न पावे। ओषधियाँ देकर जीर्ण रोगियोंका जीवन बढ़ाना ठीक नहीं।

इस प्रकारके स्त्री-सम्बन्धसे कई उद्देश सिद्ध हो सकते हैं। उससे अच्छी प्रजा उत्पन्न होगी, स्त्रियोंको अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त होगी, और एक-कुटुम्ब-पद्धतिकी सिद्धि हो सकेगी—राज्यमें सुदृढ़ एकता बनी रहेगी।

यही अफलातूनकी आदर्श सामाजिक व्यवस्था है।

चौथा अध्याय ।

इस आदर्श समाज-व्यवस्थाकी आलोचना ।

अफ़लातूनके सिद्धान्तोंकी आलोचनाके लिए तीन चार मुख्य विषय स्पष्ट देख पड़ते हैं—(१) अफ़लातूनका वर्गीकरण, (२) न्याय अथवा धर्मकी उसकी कल्पना, (३) उसकी शिक्षायोजना और (४) उसकी एक-कुटुम्बपद्धति । इन्हींपर हम यहाँ विशेष विचार करेंगे ।

यह तो निश्चित है कि स्वयं अपनी ही उन्नतिके लिए समाजकी आवश्यकता है । समाजके बिना अपनी उन्नति न होते देख मनुष्य समाज बनाकर रहता है । यानी समाज मनकी एक भारी आवश्यकताको पूर्ण करता है । इसलिए समाजको मनकी ही सृष्टि कह सकते हैं । और मन है त्रिगुणी—वह सत्व-रज-तमोगुणका बना है । उसमें बुद्धि है, उसमें तेज है, उसमें वासना है । इसलिए समाजमें तीन वर्ग होने चाहिए । कोई इसपर कहे कि यदि सबके ही मनमें तीन गुण होते हैं तो प्रत्येक मनुष्य इन तीन गुणोंका काम कर सकता है । इस पर अफ़लातून उत्तर देता है कि हाँ, प्रत्येकमे ये तीनों गुण होते हैं अवश्य, पर किसीमें किसी गुणकी प्रधानता है, किसी में किसीकी । प्रत्येकका कर्म या धर्म गुणानुसार ही निश्चित होना चाहिए । तभी वह अपना कार्य कौशलपूर्वक कर सकेगा । और मनुष्यके मनमें जिस प्रकार सत्वका राज्य होना आवश्यक है, ताकि दूसरे गुण प्रबल होकर मनमें आँधी न पैदा कर दें, उसी प्रकार समाजमे सत्वगुणका, बुद्धिका, राज्य होना आवश्यक है—समाज-शासनकी बागडोर सत्वगुणप्रधान मनु-

ष्योंके हाथमें ही होनी चाहिए। तभी समाजमें दूसरे वर्ग किसी प्रकारकी गड़बड़ न मचायँगे। यहाँतक तो ठीक है। माना कि जैसे मनमें वैसे ही समाजमें सत्वगुणका ही शासन होना आवश्यक है। परन्तु एक प्रश्न और है। यदि प्रत्येकके मनमें तीन गुण होते है और वे कार्यरूपमें परिणत होना चाहते हैं तो एकका ही प्राधान्य मानकर उसके कार्यके लिए समाजमें योजना करना और शेष गुणोंके लिए बिलकुल न करना कहाँतक उचित है? यदि प्रत्येकमें कम-अधिक प्रमाणसे तीन गुण हैं तो कम अधिक प्रमाणसे उनका कार्यरूपमें परिणत होना क्या आवश्यक नहीं है? गुण-प्राधान्यका महत्व मानकर एक एक मनुष्यके लिए एक एक कार्य मान लिया. इसलिए क्या यह नितान्त आवश्यक है कि दूसरे गुणोंके लिए बिलकुल अवकाश होना ही न चाहिए? इसपर यह उत्तर पहिले दिया जायगा कि प्राधान्य किसी गुणका क्यों न रहे, आख़िरको बुद्धिके अनुसार ही दूसरे दो गुणोंको भी चलना होगा। अन्यथा मानसिक कलहके कारण उस मनुष्यकी बड़ी दुर्गति होगी। बस समाजमें भी यही चाहिए। प्रत्येक गुणके कार्यके लिए अवसर दिये जानेपर भी बुद्धिका ही शासन चाहिए। और यही किया भी गया है। समाजको एक पुरुष मान सकते है, उसके मनके तीन गुण हैं, प्रत्येकके कार्यके लिए अवसर है, परन्तु शासन है बुद्धिके हाथमें। यह उत्तर दीखता तो ठीक है, परन्तु इस तुलनामें तुलना रह नहीं गयी। तुलनाको बढाते बढाते बिलकुल अभिन्नता होगयी। समाज और व्यक्तिमें भेद करना कठिन हो गया। व्यक्तिका अस्तित्व कहीं देख ही नहीं पड़ता। व्यक्तिकी उन्नतिसे प्रश्न प्रारम्भ हुआ, परन्तु वह समाजकी

उन्नतिमें इतना संमिश्रित हुआ सा देख पड़ता है कि व्यक्तिका अस्तित्व ही मिट गया । इस वर्गीकरणके तत्त्वानुसार व्यक्ति समाजसे किसी प्रकार भिन्न नहीं देख पडता । अन्यथा, उसके दूसरे गुणोंके कार्योंके लिए समाजमें कुछ अवसर जरूर दिया जाता । वासना-प्रधान व्यक्तियोंके इस गुणका योगीकरण समाजके मनके इस गुणका अंश वन गया, रजो-प्रधान व्यक्तियोंके इस गुणका योगीकरण समाजके मनके इस गुणका अंश वन गया, और सत्व-प्रधान व्यक्तियोंके इस गुणका योगीकरण समाजके मनके इस गुणका अंश वन गया। और प्रत्येकके लिए अलग अलग कार्य सौंप दिया गया। यह स्पष्ट ही है कि व्यक्तिका अस्तित्व समाजमें लुप्त हो गया है, इस कारण वह अलग नहीं देख पड़ता । यदि अलग होता तो उसके अन्य गुणोंके लिए समाज व्यवस्थामें कहीं तो जगह होती । इसलिए ऊपर किया गया प्रश्न वना ही रहा। करने गये आत्मिक उन्नति और भूल गये समाजोन्नतिकी व्यवस्था करनेमें ही । आत्मोन्नति और समाजोन्नतिका परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध मानते हुए भी हमें यह कहना ही होगा कि समाजकी रचना करते समय व्यक्तिका अस्तित्व पूरा पूरा नष्ट कर देना ठीक न होगा। अन्यथा व्यक्तिकी परिपूर्ण आत्मिक उन्नति न होगी । बुद्धि-प्रधान लोगोंकी ही बुद्धिको समाजकी बुद्धि मानना, तेजोप्रधान लोगोंके तेजको समाजको तेज मानना और वासनाप्रधान लोगोंकी वासनाको समाजका वासना मानना न्यायसङ्गत नहीं कहा जा सकता । उनके दूसरे गुणोंका विलकुल उपयोग न करना अन्याय है । समाजके सारे लोगोंकी संयुक्त बुद्धि ही समाजकी बुद्धि हो सकती है, समाजके सारे लोगोंका तेज ही समाजका तेज हो सकता है, और समाजके सारे लोगोंकी

वासना ही समाजकी वासना हो सकती है। अफलातूनकी आदर्श सामाजिक व्यवस्थामें इस कल्पनाका सर्वथा अभाव है।

इसपर अफलातून यह उत्तर देगा कि जिनमें वासना प्रधान गुण है उनके तेज या बुद्धिका उपयोग करना ठीक नहीं। उनकी बुद्धि शुद्ध नहीं है, और उनकी बुद्धि तेज वासनासे दबे बिना न रहेगी। इसी प्रकार जिनमें तेज प्रधान है उनकी बुद्धि विशेष कामकी नहीं और वासनाका राज्य उनके मनमें घुसेड़ना ठीक न होगा। इससे तेज ही दब जायगा। और जिनमें बुद्धि ही प्रधान है उनका उसके कारण दबा हुआ तेज समाजके कामका नहीं और उनके मनमें वासनाको थोड़ा भी स्थान देनेसे उनका और उनके साथ समाजका नुकसान होगा। इस लिए प्रत्येकके प्रधान गुणका ही उपयोग समाजके लिए हितकारक होगा। व्यक्तिकी भलाईकी दृष्टिसे भी यही उचित है। इसी रीतिसे व्यक्तिके इन गुणोंका विकास हो सकता है, इसी प्रकार आत्मोन्नति हो सकती है। यदि प्रत्येक व्यक्ति एक ही कार्य करेगा तो उसमें वह कौशल प्राप्त करेगा। इस तरह उसके उस विशिष्ट कार्यमें उन्नति होती जायगी और उससे समाजको अधिकतम लाभ होगा। किसीका चाहे जहाँपर 'बीचमें मेरा चाँद भाई' करनेकी प्रवृत्ति दूर हो जायगी। अज्ञ लोगोंका शासन न रह जायगा। स्वार्थपरताके लिए मौका न मिलेगा। देखा-देखी, होड़बाजी, मेरी-तेरीके लिए अवसर ही न रहेगा। इससे समाजमें पूर्ण शान्ति बनी रहेगी।

हमने अफलातूनके सिद्धान्तोंपर जो आक्षेप किये हैं, यद्यपि वे कुछ सच्चे हैं, तथापि अफलातूनके दिये उत्तरोंमें भी कुछ सत्य है। माना कि सारे व्यक्तियोंके विशिष्ट गुणोंके योगसे ही उस समाजके उस गुणका स्वरूप और प्रमाण निश्चित हो

सकता है, परन्तु यह भी सत्य है कि व्यक्तिका एक प्रधान गुण जितना काम दे सकता है, उतना संयोग-रीतिसे समाजका बना हुआ गुण नहीं। अन्यथा सहस्र मूर्खोंको एक बुद्धिमान्‌से सदैव अधिक बुद्धिमान् मानना होगा और सहस्र डरपोकोंसे एक सैनिक-शिक्षा-प्राप्त योद्धाको दुर्बल मानना होगा। कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य इस सिद्धान्तको सर्वथा सत्य नहीं मान सकता। केवल संख्याका महत्त्व कभी माना नहीं जा सकता। विज्ञताका भी कुछ महत्त्व है। सहस्र अज्ञोंकी न्यूनतम बुद्धिका, कभी कुछ भी उपयोग न करना ठीक नहीं। आदर्श सामाजिक व्यवस्थामें इन दोनों सिद्धान्तोंका उपयोग चाहिए, दोनोंका उचित सम्मिश्रण होना चाहिए। हिन्दुओंकी सामाजिक व्यवस्थामें दोनों सिद्धान्तोंका कुछ सम्मिश्रण अवश्य था। ब्राह्मण प्रधानतया समाजकी बुद्धिका काम करते थे, तथापि महत्त्वके अवसरोंपर दूसरोंकी भी बुद्धिका उपयोग होता था। ब्राह्मण भी कभी कभी क्षत्रियका काम करते थे। क्षत्रिय प्रधानतया रक्षा और ब्राह्मणोंकी सलाहसे शासनका कार्य करते थे, परन्तु इस कार्यमें उनकी भी बुद्धिका उपयोग होता था। वैश्य बहुधा 'कृषि-गोरक्ष-वाणिज्य' करते थे, परन्तु समय समयपर समाज की भलाईके लिए वे भी अपनी बुद्धिका उपयोग कर सकते थे। और प्रत्येक वर्णके प्रत्येक पुरुषको समाजमें रहते हुए अपनी बुद्धिकी शिक्षा, श्रवण, मननके द्वारा विकास करनेका मौका मिलता था, और वानप्रस्थाश्रमकी व्यवस्थासे सबकी शुद्ध आत्मिक उन्नति हो सकती थी। एक कार्य करते करते उसीमें जीवन समाप्त करनेके लिए हिन्दू-समाजमें बाध्यता न थी। प्रत्येकको कुछ कालतक सामाजिक कार्य करनेपर आत्मिक उन्नतिके लिए अवसर दिया गया था। हिन्दू समाज आत्मिक

उन्नतिकी समस्यासे प्रारम्भ होता, उसकी पूर्तिके लिए समाजकी यथोचित व्यवस्था करता, और फिर सामाजिक कार्य सम्पन्न करनेपर व्यक्तिको मूल उद्देशकी पूर्तिके लिए छोड़ देता था। तथापि उस व्यवस्थामें व्यक्ति समाजको सर्वथा नहीं भूल सकता था—समाजके अस्तित्वकी जाग्रति उसके मनमें सदैव बनी रहती, और आत्मिक उन्नतिके साथ समाजकी भी नैतिक और धार्मिक उन्नति करना उसका काम था। यह अन्तिम व्यवस्था अफलातूनने केवल 'दार्शनिक शासकों' के लिए, यानी प्रथम वर्गके लिए, ही बतायी है। दूसरे लोग उससे वञ्चित रक्खे गये हैं। हां, इतना जरूर कह देना चाहिए कि अफलातून यह मानता था कि एक गुण-प्रधान पुरुष उस गुणके कारण एक वर्गमें रहे। परन्तु यदि वह दूसरे गुणका विकास कर सके तो वह दूसरे वर्गमें रख दिया जाय। हिन्दुओंकी सामाजिक व्यवस्थाकी प्रारम्भिक स्थितिमें यही व्यवस्था थी। गुण-विकासके अनुसार लोग एक वर्गसे दूसरे वर्गमें चढ़ाये-उतारे जा सकते थे और इस बातका खयाल प्रत्येकमें अच्छी तरह भर दिया गया था कि व्यक्तिके प्रत्येक कार्यसे समाजका सम्बन्ध है। व्यक्तिके प्रत्येक कार्यसे समाजकी भलाई या बुराई जरूर होगी, इसलिए प्रत्येकको अपना प्रत्येक कार्य इन दोनों दृष्टिओंसे सोच कर करना चाहिए।

अफलातूनके न्याय अथवा धर्मकी कल्पनाका भी थोड़ा विचार करना आवश्यक है। हम बतला चुके हैं कि अफलातूनके अनुसार न्याय अथवा धर्म वह है जिससे हम अपने गुणोंके अनुसार कोई एक कार्य ले ले और उसे 'कौशल पूर्वक' करे। इसमें समाज-धर्म है और इसीमे व्यक्ति-धर्म है। एक ही प्रकारके कार्यसे दोनों प्रकारके धर्म सम्पन्न होते हैं। इस प्रकार

कोई कहेगा कि जब बुद्धि-भेद पैदा हो तब व्यक्ति क्या करे? कभी कभी जिन्दगीमे ऐसे प्रसङ्ग आते हैं कि जब यह निश्चय नही हो सकता कि यह करूँ या वह करूँ। ऐसे मानसिक कलहोके लिए अफलातूनने क्या व्यवस्था की है? इसपर अफलातूनका वही उत्तर है जो हम प्रारम्भमें बता चुके हैं। तीन गुणोंके अस्तित्वके कारण कलह होनेकी सम्भावना है जरूर, परन्तु प्रत्येकको अपना विशिष्ट गुण जान कर तदनुसार कार्य करना होगा और शेष गुणोको काबूमें रखना होगा। क्षात्र-धर्म स्वीकार करने पर मायामोहके पञ्जेमें पड़ता ठीक नही, क्षात्र-धर्मका कार्य पूरा करना ही चाहिए। इस प्रकार अपना अपना कार्य पूरा किया तो न मनमे कलह रहेगा और न समाजमें। यदि प्रत्येक अपना कार्य करेगा तो समाजरूपी घड़ीके विगड़नेका डर नही और न्यायाधीश रूपी घड़ीसाजोकी जरूरत नही। इस दृष्टिसे समाज नीतिबद्ध संस्था हो गया, कानूनबद्ध न रहा। परन्तु अफलातून कहां कहता है कि उसका समाज कानूनबद्ध है। आत्मिक उन्नति उसका उद्देश है और नीति उसका वन्धन है। जहाँ 'स्थितप्रज्ञ' शासक हैं वहां कायदे-कानूनकी, अदालत-कचहरीकी, जरूरत ही क्यों? वे दार्शनिक शासक सब उचित और आवश्यक बातोंको जानते रहेंगे और वे केवल उचित रीतिसे शासन करेंगे। उन्हें कायदे-कानून क्यों चाहिए? वे कायदे-कानूनके परे हैं। जिनका व्यक्तिगत सुख-दुःख नही, लाभालाभ नही, जयाजय नही, जो 'निर्द्वन्द्व नित्यसत्वस्थ' जो निर्योगक्षेम हो चुके और 'आत्मवान्' होनेकी तैयारीमे हैं, जो बुद्धिकी शरणमें परिपूर्ण जा चुके, जो बन्धविनिर्मुक्त हैं, उनके लिए कौनसे बन्धन हो सकते है? इस बातको गीताने भी माना है। आज-कलके तत्त्ववेत्ता भी मानते

है कि ऐसे पुरुषके लिए कोई बन्धन नहीं हो सकते, उसका आचरण ही दूसरोंके लिए उदाहरण है । 'वह जो करे सो ही कायदा है ।' इसपर मनमें एक प्रश्न उठता है । माना कि अफलातूनके दार्शनिक शासक ऐसे हो सकते है, परन्तु क्या वे राज्य-भार लेनेको राजी होंगे ? क्या ऐसे पुरुष समाजके भीतर रह कर सामाजिक कार्य्य सम्पन्न करते ही रहेंगे ? इस विषय पर बहुत कालसे इस देशमे विचारोंका खूब सङ्ग्राम होता रहा है। इसके अन्तिम उदाहरण 'गीतारहस्य' और उसके खण्डनमें लिखी गई पुस्तकें है । अफलातूनको भी इस बातकी शङ्का हुई है । उसने यह कहा अवश्य है कि वे पन्द्रह वर्षतक राज्यका शासन चलावे और तदनन्तर मनन-चिन्तनमें विशेष संलग्न हों, तथापि वे समाज-सेवाका कार्य्य करते ही रहें। परन्तु प्रश्न यह नहीं कि वे करते रहें या न करते रहें। प्रश्न यह है कि वे ऐसी स्थिति प्राप्त होनेपर करेंगे क्या ? ऐसा द्वैधीभाव अफलातूनके जीवनमें भी देख पडा है। उसे भी कभी कभी यह निश्चित करना कठिन हो गया कि दार्शनिकका एकान्त मननचिन्तन उचित होगा या समाजके भीतर रह कर समाज-सेवा करना ठीक होगा । उसने अन्तमें यह कहा अवश्य है कि निवृत्तिमार्ग गौण महत्वका है और प्रवृत्ति-मार्ग प्रधान महत्त्वका है । उसका आगे कहना है कि दार्शनिकका वास्तविक स्थान समाज ही है, क्योंकि यही वह 'आत्मनि सर्वभूतानि' देख सकता है । समाजसे निवृत्त होनेपर यह कल्पना हो नहीं सकती । इसके लिए अफलातून एक कारण और बताता है । वह कहता है कि जिस समाजने उसे आत्मचिन्तन करनेके योग्य बनाया, उसे भूल जाना क्या योग्य है ? बिना समाजके क्या वह इस योग्यताको प्राप्त कर सकता ? फिर क्या समाजका उसपर ऋण

नही है? इसलिए उसे चाहिए कि आत्मोन्नतिके साथ साथ समाज-सेवा भी करे। परन्तु इस वादमें बहुत जोर नही है। इसपर एक-दो प्रश्न किये जा सकते है। समाजने तो उन्हें 'बन्धविनिर्मुक्त' करनेका प्रयत्न किया, अब उसे अपनी सेवामें फँसाये रखना क्या उचित है? दूसरे, आत्मोन्नतिके लिए ही तो मनुष्यने समाजकी रचना की। यदि आत्मोन्नतिके मार्गमें समाज बाधक हो तो समाज बनानेसे लाभ ही क्या? व्यक्तिकी मानसिक आवश्यकता पूरी हुई नही, फिर वह समाज-व्यवस्थाके झंझटमें पड़े ही क्यो? जबतक आत्मदर्शनकी सम्भावना न थी तबतक ठीक था। परन्तु आत्मदर्शनकी सम्भावनाके बाद समाजके कार्योंमें लिप्त रहना और इस प्रकार मूल उद्देशको पूरा करनेसे वञ्चित होना कभी ठीक नही कहला सकता। जब आत्मचिन्तन परम सुख है तब समाजका भार उसे विघ्नकारक ही जँचेगा। सारांश यह है कि स्थान स्थानपर अफलातूनका निश्चित मत प्रतिपादित किया सा जान पड़ता है और बुद्धि उसे बतलाती है कि स्थितप्रज्ञ होनेपर भी समाज सेवा ही परम कर्तव्य है और आत्मोन्नतिका सच्चा मार्ग है, तथापि आत्मचिन्तन-मननका लोभ भी उसे सताये बिना छोड़ता नहीं, और इस कारण उसकी शङ्काएँ बनी रही और उसका निश्चित मत क्या है, यह कहना कठिन है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गका यह वाद बहुत पुराना है। सब देशोंमें विचारवान् पुरुषोंको उसने सताया है। कह नहीं सकते कि अब इस विषयमें मतैक्य हो गया। शायद संसारके अन्ततक मतैक्य न होगा। आत्मज्ञान होनेतक समाजमें रहना चाहिये, इस बातको बहुतेरे मानते हैं। परन्तु आत्मज्ञान होनेपर क्या करना, इस विषयमें बड़ा मतभेद है। यह लोगों-

पर विदित ही है कि गीतारहस्यने यही प्रतिपादित किया है कि उसके वाद भी 'लोकसंग्रह' का कार्य करते रहना चाहिये। कदाचित् यही मत विशेष ग्राह्य होगा ।

अव हम शिक्षा-पद्धतिकी ओर झुकते हैं । इसकी आलोचना तो वहुत विस्तृत हो सकती है, परन्तु हम वहुत मोटे प्रश्नोंको ही उठायेंगे। अफलातूनकी न्याय अथवा धर्मकी कल्पनासे स्वभावतः यह सिद्ध होता है कि लोग समाजके योग्य वनाये जायँ । हिन्दुस्तानमें यह वात जातिके विशिष्ट वन्धन-द्वारा सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया था । परन्तु उसमें एक दोष था । क्या यह निश्चित है कि ब्राह्मणके पुत्रमें ब्राह्मण-कर्म-योग्य गुण ही होंगे, क्षत्रियके लड़केमें क्षात्र धर्मके गुण हों या वैश्यके लड़केमें वैश्य धर्मकी योग्यता आवेगी ही । यह हम वतला चुके हैं कि पहले-पहल जाति-वन्धन वहुत कड़ा न था और लोग कभी कभी अपने 'गुणों' के अनुसार अपना 'धर्म' वदल सकते थे । परन्तु किसी कारणसे क्यों न हो, जाति-वन्धन दृढ़ होते होते विलकुल दृढ़ हो गया और गुण स्वभावके अनुसार कर्म और धर्म वदलनेकी शक्यता नष्ट हो गयी । अफलातूनने अपने समाजको इस दोषसे वचानेका प्रयत्न किया है । और उसके लिए, जैसा हम वतला चुके हैं, उसने यह व्यवस्था की कि राज्य शिक्षाके द्वारा लोगोंके गुणोंको जाने, तदनुसार उनके गुणोंका शिक्षा-द्वारा विकास किया जाय और फिर विशिष्ट कर्म उन्हे सौंपे जायँ यानी विशिष्ट वर्गमें उन्हें रखा जाय । हम ऊपर कह ही चुके है कि इस कार्यके सम्पादनकी योजनासे पूरी राज्य-संस्था एक शिक्षा-संस्था वन जाती है । हिन्दुओंके प्राचीन कालमें शिक्षाके लिए केवल आर्थिक सहायता देना राज्यका काम था । वाकी वातोंकी योजना शिक्षक

यानी गुरु करते थे। आज शिक्षा-प्रबन्ध राज्यके अनेक कार्योंमें एक कार्य है और उसका महत्त्व बढ़ता जाता है—उसपर अब अधिकाधिक ख़्याल सब देशोंमें दिया जाने लगा है। परन्तु अफलातूनने तो राज्यको ही शिक्षा-संस्था बना डाला है। उसके राज्यके दूसरे काम हैं ही कितने? रक्षा योद्धाओंके सिपुर्द है। कृषि-गोरक्ष-वाणिज्य तृतीय वर्गके सिपुर्द है। एक काम और रह गया, वह है पुरुष-स्त्रीके सम्बन्धका नियमन। शिक्षाके सिवा यही एक काम प्रथमवर्ग यानी दार्शनिक शासकोंके हाथमे प्रत्यक्ष रह गया। अफलातूनकी सामाजिक व्यवस्थाको बनाये रखनेके लिए उसकी शिक्षा-पद्धतिकी अत्यन्त आवश्यकता है। इसलिए शिक्षा-कार्यके सामने शासकोंका दूसरा कार्य गौण हो जाता है। और अफलातूनने भी इसे गौण ही कहा है। बनाने गये समाज और उसकी व्यवस्था करने, बन गयी पाठशाला और उसकी व्यवस्था। समाजके कार्य पहले ही बहुत कम, उसमें दार्शनिक शासकोंके तो बहुत ही कम, और यदि शिक्षा-कार्यने ही सारी जगह छेंक ली तो राज्यको पाठशाला कहनेमें बहुत दोष न होगा। आज-कल, न्याय ही राज्यका महत्त्वपूर्ण कार्य है और यह भी रक्षाका ही कार्य है। परन्तु अफलातूनने तो राज्यको पाठशाला बना डाला है।

यह आलोचना आजकी दृष्टिसे ठीक जँचती है, परन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि शरीरमें मनमाना भोजन ठूँसकर चिकित्सा करते बैठनेकी अपेक्षा उचित भोजन करना और चिकित्साकी आवश्यकता न रखना कई दर्जे अच्छा है। न्यायकी आवश्यकता बनाये रक्खो, इसलिए कानून-सभायें रचो और क़ायदे बनाओ, फिर अदालतें और न्यायाधीश

नियत करो और उन्हें अमलमें लानेके लिए अमले नियत करो। यह इतना बड़ा झगडा चाहिये किसलिए? शरीरका खून बिगाड़ कर मलहम-पट्टीसे शरीर कुछ अच्छा न होगा। शरीर साफ़ हो गया तो बार बार मलहम-पट्टी की ज़रूरत ही क्यों रहेगी? समाजको उचित विद्याका भोजन देते रहो, फिर क़ानून, न्याय और अमलके झगडे रहेंगे ही नहीं। नाहक राज्य-के कार्योंका आडम्बर क्यों बढ़ाना? उचित शिक्षासे ये सारे झगड़े मिट जाते हैं। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने गुणके अनुसार एक कार्य करता रहे, दूसरेके कार्योंमें दखल न दे, उचित शिक्षापद्धति-द्वारा शासक चुन लिये जायँ तो कानूनकी, तदनुसार न्यायकी और उसके अमलकी जरूरत ही कहाँ रही। ये तो रुग्ण समाजकी दवाइयाँ हैं, स्वस्थ समाजको इनकी जरूरत नही है। जहाँ अफलातूनके न्याय अथवा धर्मका राज्य है और शासक सर्वोत्तम स्थितप्रज्ञ पुरुष है, वहाँ कायदे-कानून न चाहिये। उनकी शुद्ध बुद्धि इन व्यवस्थाओंका कार्य कर सकेगी। इस वादमें भी सत्यांश है अवश्य। हिन्दुओकी सामाजिक व्यवस्थामें भी शासन शुद्ध बुद्धिकी सहायतासे ही चलानेका प्रबन्ध था। इस बातमें अफलातूनकी व्यवस्थाको पूरी तरह दोषी नही ठहरा सकते। हिन्दुओंकी व्यवस्थामें कदाचित् यह उचित था कि रक्षाका ही नही किन्तु शासनका भी प्रत्यक्ष कार्य क्षत्रियोके हाथमें था। परन्तु जन्म-द्वारा व्यक्तिधर्म निश्चित करनेकी व्यवस्थाको उचित कहनेके लिए हम अग्रसर नही हो सकते। इससे वास्तवमें यह अच्छा होगा कि शिक्षा-द्वारा व्यक्ति-धर्म निश्चित किया जाय।

अफलातूनकी शिक्षा-व्यवस्थामें हिन्दू-समाजकी आश्रम-व्यवस्थाके कुछ चिह्न देख पडते हैं। बीस वर्षतक शिक्षा

बतायी है। आगे पचीस वर्षकी अवस्था होनेपर मनुष्य प्रजोत्पत्तिका कार्य अपने ऊपर ले सकता है। तीस वर्षतक उसकी शास्त्र-प्रधान शिक्षा जारी है। इसी बीचमें वह सैनिक-शिक्षा भी प्राप्त करता है। तीससे पैंतीस वर्षतक उच्च गणित, अध्यात्मशास्त्र जैसे विषयोंमें उसका प्रवेश होता है। तदनन्तर पचास वर्षतक शासनका कार्य है, फिर दर्शनशास्त्रका अभ्यास, मननचिन्तन और समाज-सेवा। पचपन वर्षके बाद प्रजोत्पत्ति न करनी चाहिये। यह एक प्रकारकी आश्रम-व्यवस्था ही है। परन्तु हिन्दुओंकी आश्रम-व्यवस्थामें और इसमें एक बड़ा भारी भेद है। अफलातूनने शिक्षाके प्रत्येक क्रमके बाद अगले क्रमके लिए चुनावकी पद्धति बतायी है। इस पद्धतिके पक्षमें यह कह सकते हैं कि सबमें सब बातोंकी योग्यता नहीं होती, समाजमें बुद्धिमान् पुरुष सदैव थोड़े ही रहते हैं, वे ही बहुधा (परीक्षा-पद्धतिसे चुने जाकर) भिन्न भिन्न पदोंपर विराजमान होते हैं और भिन्न भिन्न कार्य करते हैं। सर्वोच्च पदोंपर पहुँचने वाले पुरुष बुद्धिसे भी बहुधा सर्वोच्च रहते हैं। तो क्या अफलातूनकी पद्धतिमें भी कोई दोष है? हाँ, एक भारी दोष है। हिन्दुओंकी आश्रम-व्यवस्थामें सभी द्विजोंको संसारके अपने कार्य सम्पन्न करनेपर आत्मिक उन्नतिके लिए अवसर था। परन्तु अफलातूनकी व्यवस्थामें आत्मिक उन्नतिका अवसर उन्हें ही मिलेगा जिन्हें परमेश्वरने अच्छी बुद्धि दी है। माना कि ज्ञान और आत्मिक उन्नतिका परस्पर बड़ा सम्बन्ध है, परन्तु ऐसा अङ्गाङ्गि-सम्बन्ध नहीं कि जो लोग शास्त्र नहीं पढ़ सकते वे आत्मिक उन्नति भी नहीं कर सकते। क्या समाजमें ऐसे लोग नहीं देख पड़ते जो विद्यासे अत्यन्त हीन होने पर भी आत्मासे अत्यन्त ऊँचे पदपर विराजमान हैं? विद्याका

महत्त्व इतना चढानेसे कई लोग नैतिक उन्नतिसे वञ्चित रह जायँगे। इस दोषका परिहार अफलातूनने नहीं किया।

इसीसे मिलता-जुलता दोष यह भी है कि उसने तृतीय वर्गके लिए शिक्षाकी क्या योजना की, यह हम जान नहीं सकते, अतः कहना पडता है कि उन्हें उसने शिक्षासे वञ्चित ही रक्खा है। इस तृतीय वर्गके पक्षमें यह कहा जा सकता है कि उसे अफलातूनने अपने मनसे क़रीब क़रीब भुला दिया है। न्याय अथवा धर्मका तत्त्व उसके लिए बतलाया और त्रिविध गुणोंको क़ाबूमें रखनेके लिए कहा, परन्तु इससे आगे उसके लिए बहुत कम बातें बतायी हैं। वह वर्ग कृषि-गोरक्ष-वाणिज्य किया करे और कमाये धनमेंसे राज्यको उचित हिस्सा दिया-करे—बस, इतनेमें ही उसके कार्य समाप्त हो जाते हैं। शिक्षाकी उसके लिए जरूरत नहीं, धन-दाराके प्रलोभनों और तदनुषङ्गिक बुराइयोंसे दूर रहनेकी जरूरत नहीं, आत्मिक उन्नतिकी उसमें योग्यता नहीं। वह सीधा अपने काम किया करे और धन-दारामें लिप्त रहे। इन विचारोंको अफ़लातूनने ऐसी गति दी है कि कई लोगोंको यही कहना पडता है कि उसकी समाज-व्यवस्थामें उनकी स्थिति दासोंसे मिलती-जुलती है। यह मानना ही होगा कि इस आदर्श सामाजिक व्यवस्थामें यह बड़ा भारी कलङ्क है। इतना ही नहीं, यह भी प्रश्न हो सकता है कि एक ही राज्यमें कुछ लोग एक-कुटुम्ब-पद्धतिसे रहें और दूसरे घर-द्वार बना कर रहें, यह कैसे संभव हो सकता है? आपसके झगडोंको देखकर अफलातूनने कहा कि उनके कारण एक राज्यमें दो राज्य देख पडते हैं। और उसने अपनी व्यवस्थासे इसे दूर करना चाहा। परन्तु जब कुछ लोग एक पद्धतिसे रहें और दूसरे दूसरी पद्धतिसे,

तब क्या यह दोष अफलातूनपर भी नहीं मढ़ा जा सकता कि उसने भी एक राज्यके दो राज्य, एक समाजके दो समाज, बना दिये? यदि गृहद्वार, धनदारा, झगड़ेका मूल है तो उससे दो वर्गोंको दूर रखना परन्तु तीसरेको उसमें निमग्न करना न्याय-सङ्गत नहीं कहा जा सकता। यदि ये बुरे हैं तो सबके लिए, यदि भले हैं तो सबके लिए। एकके लिए बुरे, दूसरेके लिए भले नही हो सकते। और जो दार्शनिक शासक गृह-द्वार और धन-दाराका अनुभव नही रखते वे इनसे युक्त पुरुषोका शासन किस प्रकार करेंगे?

तृतीय पक्षके लिए एक-कुटुम्ब-पद्धतिकी योजना न रखनेके पक्षमें यह कहा जा सकता है कि वे वासना-प्रधान मनुष्य रहेंगे, इसीलिए सम्पत्तिकी उत्पत्तिका कार्य उनके हाथमें दिया है। यदि वे सम्पत्ति उत्पन्न करेंगे तो उनका उस-पर कुछ निजी अधिकार रहना भी उचित है। और सम्पत्ति पर उनका थोड़ा भी निजी अधिकार रहा तो पत्नी-पुत्र भी उन-के निजी व्यक्तिगत होना आवश्यक है। इसीलिए उनके लिए एक-कुटुम्ब-पद्धति नही बतायी। परन्तु यदि इसमें कुछ तथ्य है तो यह प्रश्न हो सकता है कि क्या प्रथम दो वर्गोंमें भी थोड़ी थोडी वासना-प्रवृत्ति न होगी, फिर भले ही उसपर दूसरे गुणोंका दबाव बना रहे? वह प्रवृत्ति क़ाबूमें रह सकती है, परन्तु नष्ट नही हो सकती। और यदि नष्ट होती नही तो उसके कार्यके लिए थोड़ा अवसर देना क्या आवश्यक नहीं है? परन्तु अफलातूनने तो अपनी आदर्श सामाजिक व्यवस्थामें उसके लिए नामको भी जगह नहीं दी। वहाँ तो प्रथम दो वर्ग एक दृष्टिसे पूरे संन्यासी हैं। भोजन करनेपर भी भोजनकी सामग्री जुटानेकी आवश्यकता नही, और प्रजाजनन करने-

पर भी पत्नी-पुत्रकी कल्पना पास आने देनेकी जरूरत नहीं। सब कुछ करनेपर निहङ्ग बने ही हैं! इसमें संसारकी अनुभव-सिद्ध बात भी नहीं है और न वह तर्क-सङ्गत ही है—इस बातमें अफ़लातूनका न्याय एकपक्षीय है। यदि उसने सब बातोंका विचार किया होता तो एक ही बात सबके लिए बतायी होती।

अफ़लातूनसे एक और प्रश्न किया जा सकता है। क्या वैयक्तिक कुटुम्ब-पद्धति में बुराई ही बुराई है, भलाई नामको भी नहीं? मान लिया कि आप यह नहीं चाहते कि वासनाके फन्देमें पड़कर प्रथम दो वर्ग इनके पीछे पड़े रहें परन्तु अब हमारा प्रश्न यह है कि मर्यादाके भीतर रहकर क्या कौटुम्बिक पद्धतिसे कोई बौद्धिक या नैतिक उन्नति हो ही नहीं सकती? परन्तु अफलातून इसका क्या उत्तर दे? वह समझ ही बैठा है कि धन-दाराका बुरा ही असर होता है, भला होता नहीं। यहाँपर हमें कहना पडता है कि इस बातमें हिन्दुओंकी व्यवस्था अधिक व्यवहारसिद्ध और न्यायपूर्ण थी। गुण-प्राधान्यके अनुसार कर्म यानी धर्म निश्चित होता, परन्तु वासनाकी तुष्टिके लिए सबको अवसर दिया जाता था। वास्तवमें उसकी तुष्टि और तद्भूत अनुभवके बिना बहुत कम पुरुष आत्मोन्नतिके मार्गपर चल सकते हैं। अफलातूनने न तो वासनाकी तुष्टिकी आवश्यकता समझी और न उसने माना कि उसकी तुष्टिसे किसी प्रकारका सुख हो सकता है। अथवा, यों कहना चाहिये कि प्रथम दो वर्गोंके लिए भौतिक सुखकी आवश्यकता उसने बहुत कम मानी है। उनका करीब करीब सब सुख स्वकर्माचरण और चिन्तन-मननमें ला रक्खा है। खेद इतना ही है कि संसारमें इसी सुखसे सन्तुष्ट होनेवाले पुरुष किसी

भी देशमें अत्यन्त ही कम होते हैं। संसारका इतिहास इस बातमें अफलातूनका साथ नहीं दे सकता। नितान्त जङ्गली जातियोंमें पत्नी-प्रथा शायद न हो, परन्तु जब कभी जहाँ कहीं दुनियाने होश सँभाला है, वहाँ निजी सम्पत्ति, निजी पत्नी और निजी पुत्रकी रीति अवश्य देख पडी है। ज्ञानके साथ कदाचित् इस पद्धतिका भी उदय हुआ है। समाजमें जङ्गली जातियोंकी रीति प्रचलित करनेके लिए मनुष्यको फिरसे जङ्गली बनना पड़ेगा। अब संसार सोचे कि ऐसा करना ठीक होगा या नहीं? जो बुद्धि मनुष्यका प्रधान लक्षण है उसका विकास करना ठीक है या जिस दशामें मनुष्यने पहले-पहल जन्म लिया उसी अवस्थाको वापस जाना ठीक होगा?

इसी प्रकार और भी कई दोष दिखलाये जा सकते हैं। अफ़लातूनकी सामाजिक व्यवस्थामें व्यक्तिका जीवन विस्तृत करनेका प्रयत्न अवश्य है। उसने चाहा है कि मनुष्य घरकी सङ्कुचित बातोंमें न लगा रहे। उसके कार्यों का मैदान खूब भारी हो। घरू झगड़ोंसे व्यक्तिगत सङ्कुचितता पैदा होती है और राज्यमें टण्टे-बखेड़ेका मूल पैदा हो जाता है। बेहतर है कि यह मूल ही नष्ट कर दिया जाय। फिर मनुष्यके विचार और कार्य इतने सङ्कुचित न रहेंगे और राज्यकी एकता नष्ट होनेका मौक़ा न आवेगा। परन्तु ऐसा करनेमें एक बात यह अवश्य सिद्ध हुई कि मनुष्य एक भिन्न व्यक्ति न रह गया, वह समाजमें लुप्त हो गया। फिर यह कहना कि उसके कार्यों और विचारका क्षेत्र विस्तृत हो गया बिलकुल व्यर्थ है। उसके न निजी कोई कार्य रह गये, न कोई निजी क्षेत्र है, फिर वे विस्तृत क्या होंगे? वह तो शरीरके अवयवों जैसा समाजका एक अङ्ग है, अवयवका कोई निजी जीवन होता

नही। जबतक शरीर है तबतक वह भी है—शरीर नष्ट होने पर वह नष्ट हो जाता है। प्रत्येकको अपना कार्य करना चाहिए ताकि सारे शरीरकी पुष्टि हो। इस कल्पनामें कुछ बातें अच्छी अवश्य हैं। सबकी भलाई अपनी भलाई है और सबकी बुराई अपनी बुराई है, यह कल्पना समाजकी भलाईके लिए बहुत अच्छी है। परन्तु व्यक्तिको समाजका पूरा पूरा अङ्ग माननेमें, उसे सामाजिक शरीरका अवयव पूरा पूरा बनानेमे, यह दोष पैदा होता है कि व्यक्तिका स्वतन्त्र अस्तित्व नामको भी नही रह जाता। परन्तु सङ्कल्प-विकल्पवाले मनुष्यके स्वतन्त्र अस्तित्वको नष्ट करना कहाँतक उचित है? ऐसा होनेपर आत्मिक उन्नतिके लिए उसे अवसर ही कहाँ है? वह व्यक्ति समाज-यंत्रका एक पुर्ज़ा बन गया, वह स्वयं कुछ सोच-समझ नहीं सकता, वह अपने मनके अनुसार एक भी कार्य नही कर सकता। एक यन्त्रका पुर्जा बनानेके लिए उसे ठीक रखनेकी जितनी आवश्यकता होगी उतना ठीक तो वह बनाया जायगा और बना रहेगा। परन्तु उससे आगे बढना नही हो सकता। सारांश, व्यक्तिके अस्तित्वको समूल नष्ट करना व्यक्तिके मूल उद्देशोंकी दृष्टिसे ही हानिकारक है।

मनुष्यको पूर्ण रूपसे राज्यका एक अवयव बनानेसे यह दोष भी पैदा होता है कि वह दूसरी संस्थाओंका अवयव यानी सदस्य नही हो सकता। इसलिए अफ़लातूनके राज्यमें दूसरी सामाजिक संस्थाओके लिए स्थान ही नही है। भले ही उसने समाजकी एकताके लिए इस बातकी आवश्यकता समझी हो, विशिष्ट कार्यसम्पादनके लिए उसकी ज़रूरत देखी हो और यह कल्पना उसने स्वार्थसे ली हो, परन्तु आज उसे सभ्य संसार माननेको तैयार नहीं। आज यह मानते है कि मनुष्य

समाजका अङ्ग है अवश्य, परन्तु उसका स्वतन्त्र अस्तित्व भी है और वह राज्यके भीतर दूसरी सामाजिक संस्थाओंकी रचना कर सकता है।

परन्तु अफ़लातूनको डर था कि दूसरी संस्थाओंके कारण समाजकी घड़ी बिगड़ेगी ही, और साथ ही मनुष्य अपना सामाजिक कार्य भी अच्छी तरह न करेगा। प्रत्येकको एक ही कार्य करना चाहिए और उसीमें अभिरत हो जाना चाहिये। जिनसे सामाजिक सेवा हो नहीं सकती, उनको अधिकार नहीं कि वे इस जगत्में रहें। इसीलिए रोगी, वृद्ध आदि मनुष्यों-के लिए उसके समाजमें कोई स्थान नहीं। जो बच्चे अच्छे हृष्ट-पुष्ट न होंगे उनके पालन-पोषणकी ज़रूरत नहीं। ऐसे निकम्मे बच्चे, रोगी और वृद्ध मनुष्य मर गये तो बुरा नहीं और मारे गये तो भी बुरा नहीं। निकम्मे बच्चोंको मार डालनेके लिए उसने स्पष्ट सलाह दी है। परन्तु सभ्य संसार इसे मान नहीं सकता। दया कुछ चीज है और बच्चे, रोगी, वृद्ध लोगोंके भी प्रति समाजका और व्यक्तिका कुछ कर्तव्य है, ऐसा आज संसार मानता है—उनकी यथाशक्य सेवा करना अपना कर्तव्य समझता है।

इन दोषोंके होते हुए भी यह स्पष्ट हो गया होगा कि अफ़-लातूनके विवेचनमें बहुतसे उपयोगी और सर्वमान्य सिद्धान्त हैं जिनका स्वीकार हम स्थान स्थानपर कर ही चुके हैं। अफलातूनका सिद्धान्त है कि आत्मिक उन्नति ही मनुष्यका सर्वोच्च उद्देश है, समाजकी रचना उसके लिए आवश्यक है और उसकी रचना ऐसी होनी चाहिए कि उससे उसकी रचनाका उद्देश सिद्ध हो। इस उच्च सिद्धान्तको सब कोई मानेंगे। समाजमें न्याय अथवा धर्मके 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः

संसिद्धिं लभते नरः' के तत्त्वका शासन रहना आवश्यक है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि कोई भी दूसरा कार्य वह कर ही नहीं सकता। श्रम-विभागका तत्त्व समाजमें आज भरपूर अमलमें है। परन्तु स्वधर्मका निश्चय आज कुछ अंशमें तो परम्परासे, कुछ अंशमे शिक्षासे, कुछ अंशमें स्वरुचिसे होता है। गुणानुसार धर्म यानी कर्मका निश्चय होना चाहिए, यह तत्त्व समाज और व्यक्तिके लिए लाभदायक है और आज भी सब इसे मानते हैं। परन्तु इसे अमलमें लानेके लिए आजकल कोई अच्छी व्यवस्था नही है। अफलातूनने उचित शिक्षा और चुनावके द्वारा इसके निश्चयके लिए व्यवस्था बतायी है। शिक्षाके महत्त्वपर अफलातूनने जो जोर दिया है उसे आज सब मानते है। सब जानते हैं कि शिक्षाका सम्बन्ध केवल व्यक्तिसे ही नही, समाजसे भी है। उचित शिक्षा-पद्धतिमें दोनोंका खयाल होना चाहिए। इस बातमें सिद्धान्तकी दृष्टिसे आजका समाज अफलातूनसे आगे बढ़ गया है। अफलातूनने तो व्यक्तिके व्यक्तित्वको ही नष्ट कर डाला है, फिर वह उसकी स्वतन्त्र भलाईका खयाल कैसे करे ? शिक्षाके विवेचनमें अफलातूनने मनोविज्ञानके जो थोड़े तथ्य बताये है, उनमेंसे कुछ आज भी मान्य है। परिस्थति और मानसिक विकासका सम्बन्ध किसीको अस्वीकृत नही। समाजके प्रति व्यक्तिके कई महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है। इसे आज भी लोग मानते हैं। परन्तु इन्हें वे अधिकांशमें उचित शिक्षा-द्वारा ही सम्पादित करना चाहते हैं। हाँ, कुछ कार्य कानून-द्वारा प्रत्येकपर अवश्य लादे जाते है जिन्हें करना अनिवार्य होता है। किसी भी समाज-व्यवस्थाका सुधार करते समय इन तत्त्वोंको खयालमें रखना ही होगा।

इस विवेचनको पढ़ कर कई लोग कहेंगे कि यह केवल 'आदर्श' सामाजिक व्यवस्था है, यह केवल खयाली दुनियाका पुलाव है, व्यवहार्य भाग उसमें कुछ भी नही है। परन्तु ऐसा कहनेमें भूल और अन्याय दोनो है। हम स्थान स्थानपर यह दिखला चुके हैं कि उसकी बहुतसी कल्पनाएँ तत्कालीन समाज या विचारोंसे ही ली गयी हैं। हां, उसने उन्हें शुद्ध और विकसित कर डाला है, उनके आसपासकी घास-पात, काँटे-कूसे, ईंट-रोड़े निकाल दिये, तर्कका पानी देकर उन्हें भरपूर बढा दिया और एक अच्छा सुहावना बागीचा बना दिया। अफलातून खयाली दुनियाकी बातें न करता था। वह साफ साफ यह चाहता था कि इस आदर्श व्यवस्थाके विवेचनके अनुसार तत्कालीन झगड़े-फसादवाले राज्य सुधारे जायँ। वह अपने विवेचनमे व्यवहारको नामको भी नही भूला है। उसकी बातें भले ही आज या कभी व्यवहार्य न हों, भले ही तर्कमें अथवा परिस्थिति या मानवीपनका विचार करनेमें और उनसे सिद्धान्त निकालनेमें उसने भूलें की हों, परन्तु यह कहना नितान्त अनुचित होगा कि उसे व्यवहारका खयाल न था। उसे तो व्यवहारका इतना खयाल था कि पद पदपर उसने इस दृष्टिसे अवश्य विचार किया है। उदाहरणार्थ, व्यवहारका विचार सामने रखकर ही उसने रक्षकोंके लिए एक-कुटुम्ब-पद्धति प्रतिपादित की और तृतीयवर्गके लिए नही। हाँ, यह बात भिन्न है कि उसका ऐसा सिद्धान्त इस जगत्में अव्यवहार्य है। किन्तु वह ऐसा नहीं मानता था। उसने तो साफ कहा है कि ये असम्भव बातें नहीं हैं। हम अभी दिखला चुके है कि इनमेंसे बहुतेरे तत्त्व समाजके लिए महत्त्व-पूर्ण और आवश्यक है, समाज और व्यक्तिकी उन्नतिके लिए उनका प्रचारमें आना जरूरी है। हम

यह भी दिखला चुके है कि इनमेसे कई तत्व हिन्दू-समाज, किसी न किसी रूपमें कुछ सीमातक थे और आज भी दीर्घ कालीन अधोगतिके बाद उनमेसे कुछ कुछ अंश हमारे समाज में बने हुए हैं। यह सच है कि आदर्शका स्वप्नमय संसार इस भौतिक दिक्कालादिबद्ध संसारमे प्रत्यक्ष नही हो सकता वह सदैव स्वप्नमय बना रहेगा। परन्तु यह भी सबको मानना होगा कि आदर्शका स्वप्नमय संसार हमारे सामने न रहे तो हमसे कोई उच्च कार्य न होंगे। सब उच्च कार्योंकी स्फूर्ति हमें आदर्शोंसे ही मिलती है और इस तरह बहुतसे आदर्श कम अधिक अंशमें व्यवहारमें आते ही रहते हैं। आदर्शोंका उपयोग सदा बना है, और वे नितान्त असम्भाव्य कभी नही होते। इसी दुनियाकी बाते लेकर आदर्श रचे जाते है और वे इसी दुनियाके लिए होते हैं। इस परिवर्तनशील और विकारमय संसारकी बातें बाधक अवश्य होती है, परन्तु इतनी नही कि उनका कुछ भी उपयोग न हो और उनका कुछ भी प्रभाव न पडे। यदि रुपयेमे एक आना भी आदर्शका व्यवहार हो सका तो कुछ हुआ ही समझना चाहिए। समाजका सुधार बहुधा क्रमशः इसी प्रकार होता है। विचार-क्रान्तिके बाद स्थिति-क्रान्ति हुई तो भी विचार-क्रान्तिकी सभी बाते स्थिति-क्रान्तिमें नही देख पड़ती। पूर्वेतिहास, भौतिक परिस्थिति, परिवर्तनशील मानवीय मन आदि अनेक बातोंसे आदर्श जकड़ा रहता हैं और इस कारण उसका बहुत कम अंश व्यवहारमें आता है। कभी कभी स्वयं उसका स्वरूप विकृत हो जाता है। परन्तु जिस कुछ अंशमें वह व्यवहृत होता है उसी अंशमें उसका उपयोग रक्खा है। धातुकी बनी चीजोंको यदि बार बार भिन्न भिन्न चीजोसे साफ न करें तो जंग चढ़ जाता है, उसी प्रकार

आदर्शों-द्वारा लोग समाजपर चढ़नेवाले जंगको समय समय-पर कम-अधिक अंशमें दूर किया करते हैं। 'रिपब्लिक' ने कितने ही समाजोंको और विचारकोंको स्फूर्ति दी है और कितनी ही बार उसके तत्वोंको अमलमें लानेका प्रयत्न किया गया है। यूरोपका इतिहास इस बातकी गवाही देता है और इसीसे हम यह कह सकते हैं कि इन विचारोंका प्रभाव संसारमें सदैव बना रहेगा। संसारको उनसे सदैव स्फूर्ति मिलती रहेगी और तदनुसार समाज-सुधारका कार्य सम्पन्न करनेका प्रयत्न किया जायगा। अफलातूनके विचारोंका यह कम महत्त्व नहीं है।

फिर हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि आदर्श सामाजिक व्यवस्थाके विषयमें अफलातूनके सारे विचार 'रिपब्लिक' में ही नहीं समाप्त होते। जैसा हम उसकी जीवनीमें दिखला चुके हैं, अनुभवके बाद उसने स्वयं अपनी आदर्श सामाजिक व्यवस्थाको अधिक व्यवहार्य स्वरूप देनेका प्रयत्न किया है। 'पोलिटिक्स' और 'लॉज' नामक ग्रंथ इन्हीं प्रयत्नोंके फल हैं। अतः यह आवश्यक है कि अफलातूनकी आदर्श सामाजिक व्यवस्थाका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए 'रिपब्लिक' के सिवा 'पोलिटिक्स' और 'लॉज' नामक ग्रंथोंका भी विवेचन पढ़ना चाहिये। इसलिए अगले दो भागोंमें हमने इन ग्रंथोंके विचारका विवेचन किया है।

तीसरा भाग ।

'पोलिटिक्स' नामक ग्रन्थका विवेचन

पहला अध्याय ।

समाजके लिये निरंकुश राज्य-सत्ताकी आवश्यकता।

वास्तवमें अफलातूनकी आदर्श सामाजिक व्यवस्था 'रिपब्लिक' नामक ग्रन्थमें ही दी गयी है, परन्तु वहाँ यह भी स्पष्ट हो गया है कि यद्यपि उसके कुछ मूल तत्व किसी भी काल और देशमें प्रयुक्त हो सकते हैं, तथापि उसका विवेचन केवल आदर्श मात्र है। कनक और कान्ता सम्बन्धी ममत्वको दूर कर केवल शुद्ध बुद्धिसे समाजके काम करनेवाले लोग कभी न दिखाई पड़ेंगे। इस बातका ख्याल स्वयं अफलातूनको भी हुआ, इसी कारण उसने दूसरे दो ग्रन्थोमे अपनी आदर्श सामाजिक व्यवस्थाको अधिक व्यवहार्य बनानेका प्रयत्न किया है। तथापि जैसा हम आगे चल कर देखेंगे, बीच बीचमे उसकी प्रवृत्ति 'रिपब्लिक'की पूर्ण आदर्श सामाजिक व्यवस्थाकी ओर ही रही है। जिन अन्य दो ग्रंथोंमें उसने कुछ अधिक व्यवहार्य सामाजिक व्यवस्थाका वर्णन किया है वे हैं 'पोलिटिक्स' और 'लॉज़'।

ऊपर बतला ही चुके है कि इन दो ग्रन्थोंमें उसने आदर्शको अधिक व्यवहार्य करनेका प्रयत्न किया है। इसीसे कोई भी यह समझ सकता है कि ये ग्रन्थ अत्यन्त वृद्धावस्थामे लिखे गये होंगे। कम उम्रमे मनुष्य बहुधा आदर्शवादी होता है। पर धीरे धीरे ज्यों ज्यो जगत्के अनुभव प्राप्त होते हैं और यह देख पडता है कि इस त्रिगुणात्मक संसारमें कोई आदर्श

कभी भी व्यवहारमें नही आ सकते, व्यवहारमें आनेके लिए उन्हें व्यवहार्य बनाना होगा, त्यों त्यों वह आदर्शको छोड व्यवहारकी ओर अधिक अधिक झुकता जाता है। फिर इन्हीं अनुभवोंके कारण मनुष्य पहले जैसा आशावादी नही रह जाता। कटु अनुभवोंके बाद मनुष्यके कार्यों और वचनोंमें निराशाकी झलक दिखाई देने लगती है। अफलातूनके भी जीवन तथा वचनोंमें इस निराशाकी थोडी बहुत झलक अवश्य देख पडती है। इसका आभास हमें उसके अन्तिम दो ग्रंथोमे मिलता है। फिर भी अफलातून पूर्ण रूपसे कभी भी निराश नही हुआ। उसके ग्रन्थोमे, जैसा हम ऊपर कह चुके है, आदर्श व्यवस्थाका विशेष वर्णन हुआ है और वह 'रिपब्लिक'के आदर्शकी ओर कई बार, विशेषतः 'लॉज़' नामक ग्रन्थके अन्तमें, फिरसे झुक पडा है। 'पोलिटिकस' नामक ग्रंथ 'रिपब्लिक' के कदाचित् २१ से २७ वर्ष बाद लिखा गया होगा। यदि 'रिपब्लिक' मे पूर्ण आदर्श है, तो पोलिटिकसमे भी वह आदर्श सर्वथा नही त्याग दिया गया है। यह ग्रन्थ कई दृष्टिसे अपूर्ण है, पर जो कुछ वर्णन उसमें है, वह 'रिपब्लिक' के वर्णनसे अधिक मिलता जुलता है और 'लॉज'के वर्णनसे कम। तथापि यह भी स्वीकार करना चाहिये कि 'लॉज'में कानूनकी आवश्यकताका जो प्रतिपादन है, उसे इस 'पोलिटिकस' नामक ग्रन्थमे कुछ स्थान अवश्य मिला है। इस प्रकार उपर्युक्त तीन ग्रंथोंमें यह ग्रन्थ बिचला होनेके कारण और उनके लेखनकालमें करीब करीब बराबर अन्तर होनेके कारण इसमे अगले पिछले दोनों ग्रन्थोंकी कुछ झलक आ गयी है।

इस ग्रंथकी सामाजिक व्यवस्थामें यदि सबसे मुख्य कोई बात है तो वह एक राज्य धुरंधरका अस्तित्व है। राजकार्यके

लिए शुद्ध और पूर्ण ज्ञानका होना आवश्यक है। शुद्ध और पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति सबको नहीं हो सकती, एक अथवा दो चार लोगोंको ही हो सकती है। समाज-विज्ञान ही सर्वोच्च ज्ञान है, अन्य प्रकारका ज्ञान उससे हीन वर्गका है। संभव है कोई काल ऐसा रहा हो जब इस प्रकारका ज्ञान सबको प्राप्त होना संभव रहा हो। पर अब वह काल, वह 'सत्ययुग' नहीं है, वह 'देवयुग' अब बीत गया। अब तो मनुष्य उस उच्च अवस्थासे गिर चुका है, इसलिए इस समय सबको सर्वोच्च ज्ञानकी प्राप्ति संभव नहीं है। अतः राज्यका कार्य करनेके योग्य बहुत थोड़े मनुष्य हो सकते हैं—राज्य-धुरंधरत्वकी योग्यता सब नहीं प्राप्त कर सकते। राज्य-धुरंधरका कार्य बड़े महत्वका है। वह कार्य है समाज-धारण। जिस प्रकार एक कुटुम्बके धारणके लिए एक योग्य व्यक्तिका सर्वोच्च होना आवश्यक है, उसी प्रकार समाजके धारणके लिए एक योग्यतम व्यक्तिका सर्वोच्च होना आवश्यक है। इस कार्यमें सारे कार्य शामिल हैं और इस कारण इसके लिए आवश्यक ज्ञानमें सारा ज्ञान समाविष्ट है। एक दृष्टिसे राज्य-धुरंधरका कार्य जुलाहेके कामके समान है। जुलाहा जिस प्रकार भिन्न भिन्न प्रकारके सूतको भिन्न भिन्न स्थानोंमें लगाकर, उसे ताना और बाना बनाकर, सुन्दर कपड़ा बुनता है, उसी प्रकार वह भिन्न भिन्न लोगोंको उनकी योग्यता यानी उपयोगिताके अनुसार समाजके भिन्न भिन्न कार्योंमें लगा सकता है और इस प्रकार समाजका धारण कर शान्ति और सुस्थिति स्थापित करता है। इस दृष्टिसे राज्य-धुरंधरत्व केवल उच्च विज्ञान ही नहीं, वरन् एक उच्च कला भी है जिसकी प्राप्ति सबको नहीं हो सकती। यह भी एक कारण है कि इसका कार्य सबको

नही सौंपा जा सकता। वह केवल शुद्ध ज्ञान, समाज-विज्ञान, जाननेवालेको अथवा सबको समाजमें शान्ति और सुस्थिति-से रखनेकी कला जाननेवालेको ही सौंपा जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि समाज-व्यवस्थाके सारे अधिकार कुछ ही लोगोंको सौंपे जा सकते हैं, अन्य लोग उसमें दखल नहीं दे सकते। फलतः राज्य-धुरंधरके कार्य और शासन पूर्ण निरङ्कुश होने चाहिये।

परन्तु उसके कार्योंके निरङ्कुश होनेके और भी कुछ कारण हैं। राज्य-विज्ञानमें और प्रत्येक राज्यके दैनिक जीवनमें लोक-सम्मति और कानूनकी बड़ी प्रधानता रहती है। क्या वास्तवमें इनका कोई उपयोग नहीं है? अफलातून जवाब देता है 'हाँ, इनका कोई उपयोग नहीं है।' राज्यके कार्योंको चलानेके लिए सर्वोच्च शासन-सत्ताकी आवश्यकता है। यदि वह किसी शक्तिके अधीन रहे तो शासनका कार्य ठीक ठीक नहीं चल सकता। यह एक सर्वोच्च कला है। यदि हम इसे नियमोंसे जकड़ डालें, तो राज्य-धुरंधर अपना काम ठीक ठीक न कर सकेगा। उसे तो अपना कार्य अपने ज्ञानके अनुसार करने देना चाहिये। उसके कार्योंसे प्रजाकी सम्मतिकी आवश्यकता न होनी चाहिये। नावमें बैठनेवाला यात्री भी क्या नाव चलानेवालेको बतला सकता है कि तुम नावको इस ढंगसे चलाओ या उस ढंगसे चलाओ? यह तो खेवैया ही जाने कि नावको किस प्रकार खेना या चलाना चाहिये ताकि वह अपने अभीष्ट स्थानतक सुरक्षित दशामें पहुँच जाय। क्या कभी रोगी भी वैद्यको बतला सकता है कि तुम मुझे अमुक औषधि दो, अमुक मत दो? यह तो वैद्यके ही समझनेकी बात है। रोगीको वैद्यपर पूर्ण विश्वास रखकर औषधि लेनी चाहिये।

इसी प्रकार राज्य-धुरंधरको पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिये। पूर्ण स्वतंत्रताके बिना वह परिस्थितिके अनुसार अपने कार्य ठीक ठीक न कर सकेगा। किस समय कौनसा काम करना उचित है, यह अज्ञ शासित जनता क्या जाने? यह समझना तो विज्ञ राज्य-शासकका ही काम है। शासितोंका धर्म है कि वे उसकी आज्ञाएँ चुपचाप मानें। जिस प्रकार राज्य-शासनके लिए लोगोंकी सम्मतिकी आवश्यकता नहीं है, उसी प्रकार, कायदोंकी भी आवश्यकता नहीं है, बल्कि कायदोंकी आवश्यकता तो और भी कम है। मनुष्य मनुष्यकी आवश्यकताएँ, परिस्थिति और स्वभाव भिन्न भिन्न होते हैं। यदि शासन कार्यके निमित्त कोई निश्चित नियम सदाके लिए बना दिये जाँय तो इन भिन्न भिन्न मनुष्योंका—उनकी भिन्न भिन्न आवश्यकताओं, परिस्थितियों तथा स्वभावोंका—विचार शासन-कार्यमें कहाँ रह जावेगा? फिर तो सबको सभी स्थितियोंमें एक ही लाठीसे हाँकना होगा। परन्तु क्या ऐसा करना उचित होगा? कानून तो इधर उधर झुकना जानता ही नहीं—वह तो कड़े लोहेके समान सख्त होता है। उसके द्वारा शासन करना अज्ञ और हठी निरङ्कुश राजाके शासनके समान ही होगा; या ऐसा कहिये कि कानूनका शासन पुस्तकी नुसखोंके द्वारा चिकित्सा करनेके समान है। रोगके भिन्न भिन्न स्वरूप, रोगीका इतिहास, उसकी रुचि और प्रकृति आदिको ताकमें धरकर पुस्तकी नुसखोंके अनुसार किसी रोगीकी चिकित्सा करना क्या उचित होगा? अफलातून कहता है कि इसपर यदि मुझसे कोई कहे कि अनेक देशोंमें बिलकुल प्रारम्भसे ही कायदे बने चले आ रहे हैं, इसका क्या कारण? तो मैं कहूँगा कि हाँ, ठीक है, अनेक देशोंमें कायदे बने और बराबर प्रयुक्त

होते आ रहे हैं, पर इसका कारण यह है कि कायदे बनाकर व्यवस्थापक लोग परिस्थिति और मनुष्योंकी आवश्यकताके अनुसार अपनी बुद्धिका उपयोग नहीं करना चाहते—उसे वे पूर्ण विश्रान्ति देना चाहते हैं। जिस प्रकार कोई व्यायाम-शिक्षक अपने समस्त शिक्षार्थियोंके भोजनादिके लिए एकसे नियम बनाकर अपने कष्ट बचाना चाहता है, उसी प्रकार ये व्यवस्थापक लोग कानून बनाकर अपने श्रमकी बचत करना चाहते हैं। पर वास्तवमें इन दोनों कार्योंके नियम बड़ी कठिनाईसे अधिकांश लोगोंको ठीक ठीक लागू होते हैं। फिर यद्यपि वे यह जानते हैं कि हम अमर नहीं हैं तो भी वे इसकी परवाह न कर सोचते हैं अभी तो कि हम नियम बना दें, भविष्यकी बात भविष्य जाने, हमें उससे क्या करना है ? परन्तु यदि भविष्यमें उन्हे हम फिरसे जिन्दा कर सकें और उसी स्थानमें वही काम फिरसे चलानेको कहें तो उन्हें ही विश्वास हो जायगा कि नियमोंमें यथेष्ट परिवर्तन किये बिना यह काम सम्पन्न न होगा। इससे स्पष्ट है कि अबतक कायदे क्यों बनते रहे हैं। परन्तु इससे यह भी स्पष्ट है कि मानव स्वभाव, परिस्थिति और कालके परिवर्तनके कारण कायदा कभी भी अत्यन्त निश्चित या दृढ़ नहीं हो सकता। इसका अर्थ यही है कि कायदा सुशासनके लिए अनावश्यक है। जो राज्य अपने शासनके लिए सुनिश्चित और स्थायी कायदे बना रखते हैं, वे परिस्थिति और कालके अनुसार परिवर्तनशील शासनसे वञ्चित होते हैं—वहाँके लोग सब काल और परिस्थितिमें एक ही दण्डसे शासित होते हैं जो कभी भी ठीक नहीं कहा जा सकता।

अब हम प्रश्न कर सकते हैं कि अफलातूनने शासकके लिए प्रजाकी सम्मति तथा कानूनकी जो अनावश्यकता प्रतिपादित

की है क्या वह सर्वथा उचित है? स्वयं अफलातूनके उदाहरण लेकर हम इस प्रश्नका उत्तर दे सकते हैं। राज्य-शासनके कार्यकी तुलना बहुधा नौसंचालनसे की जाती है और अफलातूनने भी अपने सिद्धान्तके प्रतिपादनके लिए ऐसा ही किया है। पर उससे उसका सिद्धान्त सिद्ध नहीं होता। यदि यह भी मान लिया जाय कि नावका खेवैया यात्रियोंके प्रति अपने कार्यके लिए उत्तरदायी नहीं है, तो भी यह तो स्वीकार करना होगा कि वह नावोंके मालिकके प्रति तथा सरकारके नौ-विभागके प्रति उत्तरदायी रहता है। यदि उसे नाव खेनेका अधिकार है तो उसे अच्छी तरह खेनेकी जिम्मेदारी भी उसपर है। अधिकार और उत्तरदायित्व दोनों परस्परावलंबी हैं, एकके विना दूसरेकी कल्पना नहीं हो सकती। यही बात राज्य-संचालकके विषयमें भी चरितार्थ होती है। अब चिकित्सा-कार्यकी तुलनाकी दृष्टिसे राज्य-संचालकके कार्यका विचार कीजिए। हमें यहाँ पहले यह स्मरण रखना चाहिये कि यदि कोई रोगी अपनी खुशीसे किसी वैद्यके पास चिकित्साके लिए जाता है तो उसे चिकित्सककी सम्मतिको ग्रहण करनेका अथवा उसे अग्राह्य समझनेका पूरा अधिकार है। इस तुलनासे तो यही सिद्ध होगा कि अपने राज्यसंचालकको चुननेका, उसकी संमति सुनने और न सुननेका तथा उसे दूर भी करनेका प्रजाको पूरा अधिकार है। इसपर यदि यह कहा जाय कि यह तुलना पूरी रीतिसे लागू नहीं होती—वैद्यके पास जाने, न जानेका रोगीको पूरा अधिकार है, परन्तु प्रजा तो अपने राज्यसे बंधी रहती है, पहले पक्षमें व्यक्ति व्यक्तिका अलग अलग प्रश्न है पर दूसरे पक्षमें समष्टिका संमिलित प्रश्न है—तो इसका यह उत्तर दिया जा सकता है कि प्रजा

राज्यसे बंधी रहती है, इसलिए यह कहना ठीक नहीं कि वह किसी विशेष राज्यसंचालकसे बंधी रहती है। राज्यकी आज्ञा चुप-चाप माननेका यह अर्थ नहीं कि किसी भी शासककी चाहे जिस आज्ञाका पालन किया जाय। मानवी कार्योंकी व्यवस्था करनेवालेपर उत्तरदायित्व अवश्य रहेगा और उसके कार्योंमें संमतिकी आवश्यकता वनी रहेगी। परन्तु इस प्रकारका अधिक तर्कवितर्क करनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि, जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, स्वयं अफलातूनने ही वादमें अपने सिद्धान्तको बहुत कुछ परिवर्तित कर डाला है।

अब कानूनकी अनावश्यकताका विचार करना चाहिये। माना कि निश्चित और स्थायी नियमोंके न रहनेसे उसकी कठोरता और दृढताका कष्ट प्रजाको न होगा, परन्तु यह न भूलना चाहिये कि इससे अत्यंत अनिश्चितता उत्पन्न होगी। और यह कोई भी मान लेगा कि अनिश्चिततासे निश्चितता हजार दर्जे अच्छी है। यदि मानवजीवनमें कुछ भी निश्चितता अपेक्षणीय है, यदि मानवजीवनका कुछ मूल्य है, तो किसी भी समाजके लोगोंको अपने परस्पर आचरणके नियम पहले-से ही जान लेना अत्यंत आवश्यक है। यदि पहलेसे ये नियम न बने रहे और वे अधिकांशमें स्थायी न रहे तो लोग यह कभी न जान सकेंगे कि किस समयपर हमें किसके प्रति किस प्रकारका आचरण करना चाहिये, और न वे यही जान सकेंगे कि राज्यके संचालक हमारे प्रति किस समय कौनसा आचरण करेंगे। इस प्रकार समस्त समाजमें जो गडबडी पैदा होगी, उसके कारण राज्यमें केवल अंधेर नगरी स्थापित हो जावेगी, फिर जानमालका कोई ठीक-ठिकाना न रह जायगा। उस दशामें लोगोंको किस प्रकारका सुख प्राप्त

होगा? सुरक्षाके बिना शारीरिक और मानसिक सुख और शान्तिका प्राप्त होना असम्भव है। सारांश, ऐसी दशामें समाज और उसके शासनके अस्तित्वसे कोई लाभ न होगा। इसलिए, यदि हम चाहते हों कि समाज और उसके शासनके अस्तित्वसे हमें कोई लाभ हो, तो एक व्यक्तिके प्रति दूसरे व्यक्तिके, व्यक्तिके प्रति उस समाजकी किसी संस्थाके, उस समाजकी किसी संस्थाके प्रति किसी भी व्यक्तिके, एक संस्थाके प्रति दूसरी संस्थाके, और राज्यशासनके प्रति किसी भी व्यक्ति और संस्थाके आचरणोंके नियमोंका बहुत कुछ सुनिश्चित होना अत्यंत आवश्यक है। सुनिश्चित नियमोंसे जनताको कुछ कष्ट भले ही हो, उसपर कुछ अन्याय भी शायद हो जाय, और प्रगतिकी गति भी कुछ कुछ रुक जाय, पर यह सब कुछ पूर्ण अनिश्चित दशासे लाख गुना अच्छा है। हम तो यह भी कहेंगे कि किसी समाजमें कुछ भी नियम न रहनेकी अपेक्षा अत्यंत दमनकारी नियमोंका भी रहना एक बार अच्छा होगा।

समाजमें सुनिश्चित नियमोंके रहनेपर अफलातूनके बिगड़नेका एक बड़ा भारी कारण है। तत्कालीन ग्रीसके राज्योंमें जो नियम थे वे इतने दृढ थे कि उन्हें बदलना बड़ा ही कठिन था। ग्रीसके लोग यह चाहते थे कि सब लोग किसी निश्चित नियमावलीके अनुसार सदैव चलें और इसलिए उन नियमोंमें परिवर्तन होना ठीक नहीं। किसी भी प्रकारकी नवीनतासे, किसी भी प्रकारके परिवर्तनसे, वे डरते थे। स्वयं आथेन्समें भी यही हाल था। वहाँके नियमोंको आवश्यकतानुसार बदलना बड़ा कठिन काम था। ऐसी दशामें उक्त अपरिवर्तनीय नियमोंसे इस परिवर्तनशील संसारका काम सदैवके

लिए कैसे चल सकता है? फलतः कई लोगोंपर अन्याय होता था और प्रगति रुक गयी थी। इससे उसे सूझ पड़ा कि ऐसे दृढ नियमोंका रहना ठीक नहीं। स्थिति परिवर्तनशील होती है। मनुष्य मनुष्यका स्वभाव और आवश्यकताएँ भिन्न भिन्न होती हैं, इसलिए नियम भी परिवर्तनशील होने चाहिये। इसका मतलब यही होगा कि किसी भी प्रकारके लिखित और अलिखित नियमों और रूढियोंका सदाके लिए ज्योंका त्यों बना रहना ठीक नहीं है। यानी उनमें परिवर्तन करनेका काम राज्यसंचालक आवश्यकतानुसार अपनी आज्ञाओं द्वारा किया करें। इस बातका सारा अधिकार उसके हाथमें रहे, उसकी सत्ता अपरिमित और अनियंत्रित रहे, वह सब बातोंमें सर्वोच्च हो।

यहाँ हम स्पष्ट ही देखते हैं कि अफलातून अपने अनुमानमें नितान्त दूसरी ओर जा पहुँचा है। माना कि सर्व काल और सर्व देशोंके लिए एकसे नियम लागू नहीं हो सकते, ऐसा करनेसे कई बार अन्याय होगा, और समाजकी प्रगति रुक जावेगी, परन्तु, जैसा ऊपर कह चुके हैं, यह भी उतना ही सत्य है कि नियमोंके बिना जो गडबड़ी पैदा होगी उससे जीवनका चलना कठिन होगा। नियम कुछ निश्चित तो अवश्य चाहिये तथापि उनमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी होते रहना चाहिये। राज्यसंचालनके कामकी किसी कारीगरके कामसे पूरी पूरी तुलना करना ठीक नहीं। साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि अपने पूर्वजों और स्वकालीन कलाविज्ञोंके नियमोंके अनुसार चलकर ही कोई मनुष्य अच्छा कलाविज्ञ होता है। हाँ, उसके कलाविज्ञ हो जानेपर अपनी कलाके नियमोंमें आवश्यक परिवर्तन करनेका उसे अधिकार होना आव-

श्यक है। यह कार्य आज कल सब देशोंमे व्यवस्थापक सभाओं द्वारा होता है। इसी कारण प्रत्येक राज्यमें आज कल नित्य नये नियम इस सभा द्वारा बना करते हैं। इस प्रकार परिवर्तनशील परिस्थितिकी आवश्यकताओंकी पूर्ति होती रहती है। आज अफलातूनका सिद्धान्त नितान्त अग्राह्य है।

राज्यसंचालककी सत्ताके निरंकुश रहनेके जो कारण ऊपर बताये हैं उनके सिवा अफलातूनने एक कारण और भी बताया है। इस जगत्में सब बातोके दो पहलू होते हैं। कहीं अत्यंत गुण हैं तो कहीं अत्यंत दोष है, कही इतना शौर्य देख पडता है कि वह हुड़पनसा प्रतीत होता है तो कहीं उसका इतना अभाव है कि वहाँ डरपोकपनकी हद हो जाती है। कोई मनुष्य इतना उतावला है कि वह एक पलमात्रमें बिगड़ उठता है, तो दूसरा मनुष्य इतने शान्त स्वभाववाला है कि गालियोकी बौछार भी चुप चाप सह लेता है। प्रायः प्रत्येक समाजमें ऐसे नितान्त भिन्न भिन्न प्रकृतिके मनुष्य रहते हैं। इन सबको उस समाजमें शान्ततापूर्वक बनाये रखनेका काम राज्यधुरंधरका है। इस कामके लिए उसे ऐसा मध्य मार्ग स्वीकार करना पडता है जिससे ये भिन्न भिन्न प्रकृतिके मनुष्य हेलमेलसे रह सकें। देखिए, संगीतमें भी हमे यही करना पडता है। भिन्न भिन्न स्वरोका मेल कर सुंदर संगीत उत्पन्न करना होता है। यदि सब स्वर एक ही प्रकारके रहें तो उनसे पैदा होनेवाला संगीत उत्तम न होगा। इसी प्रकार, किसी भी कलामे भिन्न भिन्न बातोंका मेल करना होता है। किसी भी बातकी अति होनेसे उस कलाका सुंदर परिणाम नही हो सकता। यदि सब सूत बानेमें लगाये जायँ या सब सूत तानेमें रखे जायँ तो क्या कभी कोई कपड़ा तैयार होगा? उन सूतोंको

कुछ बानेमें, कुछ तानेमें लगानेसे ही कपड़ा तैयार हो सकता है। सारांश, प्रत्येक कलामें भिन्न भिन्न वस्तुओंका भिन्न भिन्न रीतिसे संयोग करनेपर ही कोई सुंदर और उपयोगी चीज तैयार हो सकती है। ठीक यही बात राज्य-धुरंधरके सम्बन्धमें भी लागू होती है। भिन्न भिन्न प्रकारके गुणों और दोषोंके, भिन्न भिन्न प्रकारके स्वभावों और उद्देशोंके मनुष्योंको उसे एक समाजमें रखकर उनके बीच शान्ति बनाये रखनेका प्रयत्न करना पडता है। उन सबको उसे एकसी बातें सिखानी होंगी। इससे यह भी स्पष्ट है कि 'समे मैत्री विवाहश्च' वाला भारतीय सिद्धान्त अफलातूनके मतमें ठीक नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत 'विषम विवाह' ही इस विचारकके मतमें ठीक होगा। क्योंकि यदि पतिमें एक प्रकारके गुण-दोष हैं, पत्नीमें दूसरे प्रकारके, तो इस रीतिसे इनका अच्छा मेल जमेगा। यही तत्व किसी कार्यालयके सम्बन्धमें भी लागू होता है। वहां जितने कर्मचारी रखे जायं वे सब भिन्न भिन्न प्रकारके स्वभाव-के रहें। कोई उनमेंसे साहसी तो कोई धीर रहें, कोई बहुत उतावले हों तो कोई बड़े सावधान रहें। इस तरहसे उनका बड़ा अच्छा मेल जमेगा और कार्य ठीक चलेगा। भिन्न भिन्न प्रकारके मनुष्योंको भिन्न भिन्न स्थानोंमें लगानेसे राज्य-संस्था-का संचालन ठीक रीतिसे हो सकता है। यह कार्य ठीक रीति-से संपादित करनेके लिए राज्यकी धुराधारण करनेवालेकी सत्ता अनियंत्रित रहना नितान्त आवश्यक है। यदि नियमोंके द्वारा उसके हाथ पाँव किसी प्रकार बँधे रहें तो वह अपने कार्यमें सफल न हो सकेगा।

दूसरा अध्याय।

इस सिद्धान्तकी आलोचना।

हम पहले कह चुके हैं कि अफलातूनकी आदर्श सामाजिक व्यवस्थाकी ग्रंथ त्रयीमें 'पोलिटिकस' ग्रन्थ लेखन-कालकी दृष्टिसे प्रायः बीचमें रखा जा सकता है। इसी कारण उसमें प्रथम और अन्तिम दोनों ग्रंथोंकी छाया देख पड़ती है। तथापि उनसे उसमें भिन्नताएँ भी कम नहीं है। 'रिपब्लिक' और 'पोलिटिकस' दोनोंमें किसी सर्वोच्च बुद्धिवालेके हाथमें राज्य-संचालनका सम्पूर्ण काम सौंपा गया है। मानवस्वभाव-की भिन्नता और मनुष्यकी योग्यताका दोनोंमें ध्यान रखा गया है। परन्तु इन भिन्नताओंका उपयोग दोनोंमें बिलकुल-भिन्न रीतिसे किया गया है। 'रिपब्लिक' में स्वभाव और योग्यताकी भिन्नताके अनुसार यानी प्रत्येककी विशेषताके अनुसार प्रत्येक-को भिन्न भिन्न कार्य सौंपा गया है, पर 'पोलिटिकस' में भिन्न भिन्न विशेषताओंके एकत्रीकरणपर जोर दिया गया है। इस कारण दोनों ग्रन्थोंकी मानव-श्रेणियाँ भी भिन्न हो गयी हैं। 'रिपब्लिक' में कमसे कम प्रथम दो वर्गोंके लिए एक कुटुम्बत्व-का प्रतिपादन है, पर यह बात 'पोलिटिकस' में नहीं देख पड़ती। इसके विपरीत, यहाँपर यह स्पष्ट बतला दिया गया है कि यदि लोगोंको उचित और आवश्यक शिक्षा मिली तो वे विवाहादिके प्रश्न आप ही हल कर लेंगे, तथापि यह भी हमें स्मरण रखना चाहिये कि 'पोलिटिकस' में न किसी शिक्षा प्रणालीका विचार किया गया है और न संपत्तिकी विभाजन-पद्धतिपर ही कुछ प्रकाश डाला गया है। इस कारण 'पोलि-टिकस' का विवेचन आदर्श सामाजिक व्यवस्थाकी दृष्टिसे

बहुत कुछ अपूर्ण जान पड़ता है। उसमें सारा ज़ोर इसी बातपर है कि राज्य-धुरन्धरकी सत्ता अनियंत्रित और अपरिमित होनी चाहिये, उस सत्ताके संचालनमें शासितोंके मतकी और नियमोंके नियमनकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है।

राज्य-धुरंधरकी अपरिमित और अनियंत्रित सत्ताके सिद्धान्तके विरुद्ध कई प्रश्न उठ सकते हैं। सबसे पहला प्रश्न तो यही हो सकता है कि क्या यह संभव है कि कोई मनुष्य बहुत बुद्धिमान् होते हुए भी मानव-जीवनकी सारी बातोंको सँभाल सके, सारे प्रश्नोंके उत्तर ढूँढ निकाल सके और उन्हींके अनुसार अपना कार्य कर सके? क्या यह संभव है कि जनसमुदायको वह चाहे जिस ओर झुका ले सके? हमारे आचार और विचारोंका विकास जिन रूढ़ियोंके रूपमें सब देशों और सब कालोंमें देख पड़ता है, क्या उन रूढ़ियोंको ताकपर धर देनेके लिए वह जन-समुदायको राजी कर सकेगा? प्रत्येक समाजमें जो अनुभवोंका संग्रह हुआ रहता है, क्या वह बिलकुल बेकाम है और केवल एक मनुष्यकी बुद्धि ही उससे श्रेष्ठतर है? केवल आदर्शका विचार करते समय हम कदाचित् इन प्रश्नोंको भूल जा सकते हैं। पर हमें जब संसारकी वास्तविक स्थितिका सामना करना पड़ता है, जब हमें यह बोध हो जाता है कि श्रेष्ठसे श्रेष्ठ बुद्धिमान् मनुष्य अकेले अपने भरोसे जनसमुदायकी जीवन-नौका नहीं खे सकता, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि भिन्न भिन्न इच्छाओं और स्वभावोंके लोगोंको एक ही नावमें ले जाना सरल कार्य नहीं है। माना कि किसी कामके छोटेसे छोटे और बड़ेसे बड़े नियम बनाकर रख दिये तो भी वह काम भलीभाँति संपादित न होगा। कार्य करनेवालेको यदि कुछ भी स्वतन्त्रता न रही तो

वह कार्य भलीभाँति न बन पड़ेगा। क्योंकि यह सब जानते हैं कि इस संसारको हम यन्त्रवत् नहीं चला सकते। परिवर्तनशील परिस्थिति और मानवी स्वभावका विचार करना ही होगा, उसके अनुसार कार्योंके उद्देश, साधन, सिद्धिकाल और सिद्धिप्रमाण बदलते जावेंगे। सारे कामोंके लिए, समस्त परिस्थितियोंके लिए, नियम बनाना असम्भव है और मूर्खता भी है। तथापि यह भी उतना ही सत्य है कि नियमोंके विना कोई भी कार्यकर्त्ता अपना काम ठीक न कर सकेगा, क्योंकि, जैसा हम अभी ऊपर कह चुके हैं, किसी भी एक मनुष्यकी बुद्धिके भरोसे इस संसारका रथ चलाना असंभव है; दूसरे, मानव-स्वभावकी कमजोरियाँ सबमें होती हैं। कौनसा पुरुष विश्वासके साथ यह कह सकता है कि अमुक पुरुष अपने कर्तव्यसे तिलभर भी विचलित न होगा? यह कौन कह सकता है कि मनोविकारोंसे प्रेरित होकर उसके काम न बिगड़ेंगे या वह किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थके वश न होगा? फिर, जैसा हम ऊपर एक वार बतला चुके हैं, राज्य-सञ्चालनकी कला इतर कलाओंसे बहुत कुछ भिन्न है। यदि राज्यका सञ्चालन अच्छी तरह न हुआ तो भी लोग राज्य छोड़कर एकदम नहीं चले जाते या एकदम बलवेका झगडा नहीं खड़ा कर देते। राजकीय बन्धनोंको तोड़ना सरल कार्य नहीं है। बड़े बुद्धिमान् राज्य-धुरंधरके अभावसे भी राज्यका काम नियमोंके द्वारा बहुत कुछ भलीभाँति चल सकता है। पर सत्ताकी अपरिमितताके कारण मनुष्य मनोविकार और स्वार्थके वश शीघ्र हो सकता है। यदि रोगी और वैद्यके सम्बन्धोंका, चिकित्साके कार्यका, नियमों द्वारा नियंत्रण आवश्यक है तो उससे कहीं अधिक शासितों और शासकोंके सम्बन्धोंके नियं-

रणकी आवश्यकता है। जो कोई नियम बनते हैं उनमें मनुष्य-के अनुभवोंकी ही झलक देख पड़ती है, सारे नियम अनुभवों-के आधारपर ही बनते हैं। माना कि नियमोंके अनुसार किये कार्य बुद्धिमत्ताके अनुसार किये कार्योंसे अधिक एक ढरेंके होंगे, उनमें मनुष्य 'लकीरका फकीर' बनासा देख पड़ता है। पर हमें यह न भूलना चाहिये कि मनुष्य अपनी बुद्धिमत्ताको, अपने अनुभवोंको ही, नियमोंके रूपमें सुरक्षित रखता है। इस प्रकार यदि नियमानुकूल राज्य-शासन बुद्धिके अनुरूप राज्य-शासनसे कुछ हीन दर्जेका होवे, तो भी वह इसका एक अच्छा प्रतिरूप अवश्य रहेगा। और जब आदर्शकी सिद्धि इस संसा-रमें संभव ही नहीं है, तब आदर्श राज्य नही तो उससे मिलता जुलता राज्य अन्तमें हमारा व्यावहारिक आदर्श होगा।

किसी भी शासनका पूरा पूरा विश्वास न हो सकनेके कारण ही नियम-नियंत्रित राज्यकी आवश्यकता होती है। संसारका अनुभव यही बतलाता है कि किसी भी शासनका पूरा पूरा विश्वास नही किया जा सकता, किसी भी शासनको अनियंत्रित बनने देना ठीक नही। इस कारण एक ऐसी सभा स्थापित की जाती है जिसमें या तो सारी जनताके या कुछ सुख वस्तु लोगोंके प्रतिनिधि रहते हैं और जहाँपर प्रत्येक प्रतिनिधि अपना अपना मत स्वतंत्रतासे प्रदर्शित करता है, फिर उसका धंधा चाहे कुछ भी हो और राजकीय तत्वोंका उसे ज्ञान हो या न हो। वह सभा शिक्षित और अशिक्षित सबकी सम्मति जाननेका प्रयत्न करती है और अपने निर्णयों और विचारोंको नियमों और कायदोंमें परिणत करती है। इसके इन निर्णयोंके अनुसार ही राज्यका सारा काम चलता है। अधिक सुरक्षित-ताकी दृष्टिसे यह भी आवश्यक होता है कि शासनसूत्रधारी

समय समयपर बदलते रहें, सदाके लिए वे ही न बने रहें। यहाँतक तो ठीक रहा। पर अफलातूनके समयके राज्योंमें नियमबद्धता पराकाष्ठातक पहुँच गयी थी। जब शासकोंका काम समाप्त होता, तब विशिष्ट न्यायाधीशोंके सामने उनके कार्योंकी जाँच होती और यदि यह देख पड़ता कि उन्होंने किसी क़ायदेका उल्लंघन किया है तो उन्हें दण्ड होता था। जहाँपर सत्ताकारी प्रतिवर्ष चुने जायँ, निश्चित नियम-विधान हो और इनका उल्लंघन करनेपर दण्ड हो, वहाँ किसी मनुष्यके लिए अपने ज्ञान, अनुभव या बुद्धिका प्रयोग करनेका मौका ही कहाँ है? वहाँपर तो इन बंधनोंसे ज्ञान-वृद्धि रुकेगी ही, पर वहाँ यदि किसीने राज्य शास्त्रका स्वतंत्र विवेचन किया तो पाखण्डी समझा जा कर वह दण्डनीय हुए विना न रहेगा। क्योंकि उसपर यह अपराध लगाया जावेगा कि वह वहाँके युवकोंको कानून ताकमें धरकर अपने अपने मनके अनुसार चलना सिखाता है। अफलातूनने निरंकुश सत्ताके सिद्धान्तका प्रतिपादन तत्वोंके आधारपर करनेका प्रयत्न अवश्य किया है, पर यह सत्य है कि आथेन्सके नियमबद्ध प्रजातंत्रके हाथों अपने गुरु सुकरातकी मृत्यु हुई देख कर स्वतंत्रज्ञान और बुद्धिकी अपरिमित सत्ताकी आवश्यकता उसे अवश्य सूझी होगी।

अफलातूनके अपरिमित और अनियंत्रित राजकीय सत्ताके सिद्धान्तपर ऊपर हमने जो जो आक्षेप किये हैं, वे उसे स्वयं भी सूझे विना न रहे। अन्तमें उसे भी मानना पड़ा है कि नियमोंके विना राज्यके काम न चलेंगे। स्वयं उसे भी नियमों, प्रजामतों, राज्यसंघटनों तथा प्रत्यक्ष संसारके धीरे धीरे किये जानेवाले अशास्त्रीय कार्योंके सामने झुकना पड़ा है। अब उसे भी लोगोंकी पुराणप्रियता और रूढ़िको कुछ मान देना

पड़ा। इसमें आश्चर्य करनेकी कोई बात नहीं है। कानून और नियमोंके अभावमें मनुष्य अपनी बुद्धिसे काम लेता है। पर उनके रहनेपर उन्हींके अनुसार कार्य करने और करवानेकी आवश्यकता प्रतीत होती है। यदि प्रत्येक व्यक्तिको कानून और नियमोंके विरुद्ध कार्य करनेकी स्वतंत्रता रही तो पहले बतलाये अनुसार 'अंधेर नगरी' का साम्राज्य प्रस्थापित हुए विना न रहेगा। उस समय स्वार्थका जो संग्राम उपस्थित होगा उसमें समस्त समाजका संहार हो जावेगा। फिर, यह भी स्मरण रखना चाहिये कि जहाँ राज्य-संचालकोंकी संख्या यथेष्ट होती है, वहाँ उन सबका एकसा ज्ञानवान्, बुद्धिमान् और विकारहीन होना असंभव है। इससे बेहतर है कि राज्य-संचालक नियमोंके अनुसार चले। कानून और नियम आदर्श का स्थान नहीं ले सकते, पर वे बुद्धि और अनुभवके सार होते हैं, इसलिए नियमबद्ध शासन आदर्श शासनके बहुत कुछ नजदीक पहुँच सकता है। खेदकी बात है कि इस संसारमें आदर्श शासनकी स्थापना नहीं हो सकती। पर उसके निकट पहुँचनेवाला यदि कोई शासन हो सकता है तो वह अच्छे नियमोंके अनुसार संचालित शासन ही है। शासकोंका अविश्वास होनेके कारण तथा आदर्श शासन संभव न होने कारण नियमबद्ध राज्योंकी सृष्टि होती है, परन्तु इसके लिए उपाय ही क्या है? माना कि उसमें सुख कम और कष्ट अधिक हैं, स्वतंत्र विचार और स्वतंत्र बुद्धिके लिए वहाँ विशेष स्थान नहीं है, योग्यतम लोगोंके हाथमें राज्यसूत्र नहीं रहते, पर इतना तो होता है कि वह राज्य स्थायी रहता है। इसी दृष्टिसे वह आदरणीय है। अगले भागमें हम देखेंगे कि अफलातूनने नियमबद्ध राज्यकी आवश्यकता कहाँ तक मानी है।

चौथा भाग ।

'ताॅज' नामक ग्रंथका विवेचन ।

पहला अध्याय।

इस ग्रंथके सामान्य तत्व।

ग्रीसमें प्राचीन कालसे लोगोंकी ऐसी धारणा रही है कि "लॉज" नामक ग्रंथ अफलातूनकी मृत्युके एक वर्ष बाद उसके एक शिष्य द्वारा प्रकाशित हुआ। कदाचित् यही कारण है कि यह ग्रन्थ कई स्थानोंमें खण्डित जान पड़ता है और उसमें कई स्थानोंमें असंगति भी देख पड़ती है। अफलातूनको इस ग्रंथकी कल्पना कदाचित् ई० पू० ३६१ (वि० पू० ३०४) वर्षके लगभग सूझी हो परन्तु अनेक बातोंसे ऐसा जान पड़ता है कि इसकी रचना उसने अपनी आयुके अन्तिम दश वर्षोंमें की थी। इसमें वृद्धावस्थाकी निराशाकी स्पष्ट छाया देख पड़ती है। वह समझने लगा था कि "मनुष्य ईश्वरके हाथकी कठपुतली मात्र है", "ईश्वरके सामने मनुष्य कोई चीज नहीं है।" विवेचनशैलीमें वृद्धावस्थाकी छाप स्पष्ट दिखाई देती है। बार बार वह अपने विषयको भूलासा जान पड़ता है, पुनरुक्तियाँ बहुत हैं और कई स्थानोपर परस्पर असंगत कथन या सिद्धान्त है। विवेचन नाममात्रके लिए संवादात्मक है, वास्तवमें वह एक ही व्यक्तिके व्याख्यान सा जान पड़ता है। प्रारंभमें तो उसका विवेचन बहुत ही शिथिल है, पर आगे चल कर अच्छा हो गया है और वहाँ अफलातूनके विचारोंकी ऊँची उड़ान भरपूर देख पड़ती है।

ग्रंथके नामकरणसे ही हम अफलातूनके विचारोंके परिवर्तनका पता पा सकते हैं। इसके पहले, व्यक्तिगत बुद्धिके

स्वतंत्र-शासनमें उसका पूर्ण विश्वास था। हाँ, इस बातकी आवश्यकता तो वह सदैव मानता रहा कि वह बुद्धि उचित शिक्षा द्वारा अवश्य विकसित की जावे। इस प्रकार विकसित होनेपर उसपर किसी प्रकारका नियंत्रण न रहना चाहिये। उसे इस बातकी आशा थी कि बुद्धिका इतना अपेक्षणीय विकास हो सकता है। परन्तु जब सायरेक्यूसमें दो बार वह किसी न किसी कारणसे विफल हुआ, तब उसे अपनी आदर्श व्यवस्थाका स्वरूप थोड़ा बहुत बदलनेकी आवश्यकता जान पड़ने लगी। फिर वह अपने मनमें प्रश्न करने लगा कि यदि आदर्श दार्शनिक राजा नहीं बनाया जा सकता, जो कायदे कानूनके बिना स्वतंत्रतया अपनी बुद्धिके अनुसार शासन करे, तो क्या खुद क़ानूनको दार्शनिक रूप देना संभव नहीं है जो सब देशोंमे एकसा प्रचलित हो सके? उत्तम प्रकारका शासन संभव नही तो न सही, उससे मिलताजुलता मध्यम प्रकारका शासन तो स्थापित हो सकता है। प्रत्यक्ष शासककी बुद्धि द्वारा दर्शनशास्त्र व्यवहारमें नही आ सकता तो न सही, दर्शनशास्त्र-मूलक नियम-विधान द्वारा तो दर्शन-शास्त्रका व्यवहार हो सकेगा। प्रत्यक्ष नही तो अप्रत्यक्ष रीति-से उसका उपयोग होगा ही। हाँ, इसमें यह आवश्यकता अवश्य पैदा होगी कि निरंकुश एकतंत्रके स्थानमें एकतंत्र और लोकतंत्रका, धनी और निर्धनोंका, मिश्र राज्यशासन प्रस्थापित करना होगा। इस प्रकार, मिश्र शासन-संघटनका नियमबद्ध राज्य ही उसके अन्तिम कालकी प्रधान कल्पना बन बैठी। यह आदर्श और व्यवहारके बीचका मार्ग है। इसमें एक बात और यह है कि ग्रीसकी मूलभूत नियमोंकी शासन-प्रणालीका भी समावेश है। आदर्शके व्यवहारमें आनेकी आशा

नहीं रही, तो व्यवहारको ही आदर्शके अनुरूप बनानेका प्रयत्न करना चाहिये। बस, यही इस ग्रंथका उद्देश है।

परन्तु इतनेसे ही उसके सिद्धान्तोंमें बड़ा परिवर्तन हो गया है। इससे उसके राजकीय सिद्धान्तोंके दो भाग बन गये। पहलेमें उनका आदर्श स्वरूप है—उसमें पूर्ण स्वतंत्र आदर्श दार्शनिक शासक है। दूसरेमें उनका व्यवहार्य स्वरूप है—यहाँ 'नियम-विधान के रक्षक' हैं, जो उसके 'नौकर' हैं या यह कहो कि जो उसके 'गुलाम' हैं। परंतु इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि ये दो आदर्श परस्पर-विरोधी हैं, नहीं, वे परस्पर-संगत हैं। पहला आदर्श सदैव पूर्णादर्श बना रहा, उसमें तिलमात्र भी अन्तर न हुआ। दूसरा आदर्श भी आदर्श ही था पर पहलेसे कम दर्जेका, तथापि व्यवहार्य था। 'पोलिटिकस'में ही, जैसा हम देख चुके हैं, नियमोंकी आवश्यकताको अफलातून मानता सा देख पड़ता है। वहाँ यह भी देख पड़ता है कि वह मनुष्य-समाजके भिन्न भिन्न अंगोंके मिश्र शासन-संघटनकी उपयोगिताको भी स्वीकार करता है। उसके इन विचारोंको सायरेक्यूसके अनुभव तथा तत्कालीन इतिहासने और भी आगे बढ़ाया और उन्हें पूर्ण विकसित कर दिया।

'लाज' का विवेचन प्रारंभ करते समय हमें यह न भूलना चाहिए कि समाजके बिना व्यक्तिका नैतिक विकास नहीं हो सकता—व्यक्तिके विकासके लिए समाज नितांत आवश्यक है। और समाजके लिए शासन-व्यवस्थाकी आवश्यकता है—समाजके भिन्न भिन्न अंगोंको एकत्र बनाये रखनेके लिए उचित प्रकारकी शासन-व्यवस्था चाहिये। यानी व्यक्तिगत नैतिक विकासके लिए शासन-व्यवस्थाकी आवश्यकता है। यदि पूर्ण स्वतंत्र निरंकुश दार्शनिक शासकोंकी शासन-व्यवस्था नहीं

स्थापित हो सकती, तो उसका शासन नियम-विधान द्वारा होना आवश्यक है। इसलिए नियम-विधान बनानेवालेको यानी व्यवस्थापकको परिपूर्ण नीतिकी कल्पना जाननी चाहिये। हम देख चुके हैं कि 'रिपब्लिक' में नीतिका अर्थ 'न्याय' या 'धर्म' है और इस 'न्याय' या 'धर्म' का अर्थ स्वगुणानुसार कौशलपूर्वक कर्मानुसरण है। इसलिये वहाँ भिन्न भिन्न लोगोंके भिन्न कार्योंका परिपूर्ण विभाजन हो चुका है। जो शासनका काम करते हैं, उन्हें साधारण सामाजिक बातोंसे कुछ करना नहीं है, जिन्हें उत्पादक काम करना है उनका शासनकार्यमें कुछ भी हस्तक्षेप नहीं है। एक ओर शासक और रक्षकजन हैं जिनका कोई निजी धन-द्रव्य या पत्नी-पुत्र नहीं है, तो दूसरी ओर उत्पादक जन हैं जिनका घर-द्वार और माल-मत्ता सब कुछ है पर जिनका शासनपर कुछ भी अधिकार नहीं है। वहाँ पर 'धर्म' के आनुषंगिक गुणोंके स्वरूपमें, बुद्धिमत्ता और तेजस्विताके सिवा, आत्मसंयमका भी उल्लेख है। आत्मसंयमका अर्थ है वासनाको बुद्धिसे दबाना। इस कारण 'रिपब्लिक' में इस बातकी आवश्यकता बतायी गयी है कि वासनाप्रधान उत्पादक वर्गपर बुद्धिप्रधान शासक-वर्गका अधिकार होना चाहिये। इसलिए यह कह सकते हैं कि जिस प्रकार आत्मसंयम द्वारा व्यक्तिगत मनमें वासनापर बुद्धिका अधिकार स्थापित कर हम 'समता' * या 'साम्य' स्थापित

---

* 'समता' या 'साम्य' श्रीमद्भगवद्गीताका शब्द है और हमने उसका उसीके अर्थमें उपयोग किया है। अफलातूनके कथनका बोध उससे भली भाँति होता है। गीता-पाठकोंपर यह स्पष्ट ही है कि उससे मनकी ऐसी स्थितिका बोध होता है कि जिसमें किसी प्रकारके विकारोंका अभाव नहीं है और इसलिए मन इधर उधर चाहे जैसा आंदोलित नहीं होता।

करते हैं, उसी प्रकार उसके द्वारा राज्यमें वासनाप्रधान लोगों-पर बुद्धिप्रधान लोगोंका शासन स्थापित कर वहाँकी जनतामें 'समता' या 'साम्य' स्थापित करते हैं। अतः आत्मसंयम एक ऐसा गुण है जिससे किसी समाजके समस्त लोगोंमें समस्थिति स्थापित होती है—शान्तता, एकता, स्वकर्माभिरतता स्थापित होती है। अफलातूनका जुलाहेकी बुनाईका उदाहरण लेकर हम कह सकते हैं कि उसके द्वारा समाज रूपी ऐसा वस्त्र तैयार होता है जिसमें कोई सूत बानेमें तो कोई तानेमें लगा हुआ है, पर जिसे अलग अलग करनेसे उसका कुछ भी उप-योग नहीं रह जाता। सब सूतोंकी यथास्थान नियतिसे ही सुंदर वस्त्र तैयार होता है। बस, यही आत्मसंयमका गुण 'लॉज' ग्रन्थका आधारमूल गुण है। 'रिपब्लिक' में 'स्वगुणा-नुसार कर्म' यानी 'धर्म' का प्राधान्य है तो 'लॉज' मे भिन्न भिन्न तत्वोंको, भिन्न भिन्न अंगोंको, सुसंगत करनेवाले, समस्थितिमें रखनेवाले 'आत्मसंयम' की प्रधानता है। वहाँ जैसे 'धर्म' में अन्य सारे गुण समाविष्ट हो जाते हैं, उस प्रकार यहाँ 'आत्मसंयम' सब गुणोंका राजा बन बैठता है और सबको अपनेमें समाविष्ट कर लेता है।

जबतक मनमें, वैसे ही राज्यमें, समस्थिति नहीं रहती तबतक बुद्धिमत्तासे कुछ नहीं बन सकता। और समस्थिति आत्मसंयमपर अवलंबित है। इसलिए बुद्धिमत्ता आत्मसंयम पर अवलंबित होती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बुद्धिमत्ता भी आत्मसंयमसे पैदा होती है और वह सम-स्थितिकी बहिन है। इसी प्रकार साहस और न्याय (या धर्म) आत्मसंयमपर अवलंबित है। सारांश यह है कि किसी भी गुणको गुणाभिधान पानेके लिए आत्मसंयमकी आवश्यकता

है, आत्मसंयमके विना बुद्धिमत्ता, साहस, आदि गुणोंकी संभावना ही नही हो सकती। वह केवल सर्व गुणोंका राजाही नही किन्तु स्वयं स्वातंत्र्यका सार है, क्योंकि आत्मसंयमके विना वासना बुद्धिके अधीन नही होती और जबतक वासना बुद्धिके अधीन नही होती तबतक स्वतंत्र आचरण संभव नहीं है—जबतक मनुष्य शुद्ध बुद्धिके अनुसार आचरण नही करता तबतक यह नही कह सकते कि वह स्वतंत्रतापूर्वक आचरण करता है। यह स्पष्ट है कि बुद्धिकी प्रेरणाके अनुसार जबतक कोई स्वतंत्रतापूर्वक आचरण नही करता, तबतक सदाचारकी संभावना नही है। वासनाके अधीन होनेपर मनुष्यकी बौद्धिक स्वतंत्रता नहीं रह जाती और वह पूर्णतया अपनी कुप्रवृत्तियोंके अधीन हो जाता है। अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि अफलातून किस कारणसे आत्मसंयमको ऐसा सर्वप्रधान गुण मानता है कि जिससे व्यक्तिगत मन और राज्यमें समस्थिति बनी रह सकती है।

ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट है कि यदि कोई व्यवस्थापक किसी राज्यमें आत्मसंयमका गुण पैदा करना चाहता है तो उसे तीन बातें सिद्ध करनी होंगी—जिस राज्यके लिए वह नियम-विधान बनावेगा (१) उसका स्वतंत्र होना आवश्यक है, (२) उसमें पूर्ण एकता होनी चाहिये और (३) उसकी बुद्धि स्वतंत्र होनी चाहिये। इस प्रकारका राज्य 'रिपब्लिक' के राज्यसे भिन्न होगा। आत्मसंयमका यह मतलब नहीं कि वहाँ पूर्ण श्रमविभाजन हो। वहाँके शासकोंको राजकीय अधिकार तो रहेंगे हो, पर सामाजिक अधिकार भी रहेंगे—उनकी निजी मालमिलकियत और घरद्वार भी रहेंगे। शासितोंको भी यही बात लागू होगी—उनके निजी घरद्वार और धन-द्रव्य

रहेंगे ही, पर अपने शासकोंके कामोंमें उनका भी हाथ रहेगा और वे इसके लिए अपना मत दे सकेंगे। हाँ, यहाँ भी यह बात रहेगी कि लोग कभी कभी एकत्र भोजन किया करेंगे। श्रमविभाजनकी सहकारितासे जो एकता पैदा होगी वह यहाँ न रहेगी, पर आत्मसंयमके कारण परस्परमें सहानुभूति रहेगी और इस कारण उसमें भी एकता बनी रहेगी और यह एकता अधिक स्थायी होगी क्योंकि इसमें मनुष्यकी सब आवश्यकताओंका समावेश है।

यदि हम आत्मसंयमको सर्व गुणोंका राजा, सर्व गुणोंका पूर्ण विकसित स्वरूप, मानते है तो यह स्पष्ट है कि जिस राज्यका आधार कोई अन्य गुण है वह राज्य मूलमें ही ठीक न होगा। उदाहरणार्थ, जिस राज्यमें साहसका प्राधान्य है और युद्ध ही जिसका एकमात्र उद्देश है, वह भ्रष्ट राज्य ही होगा। "युद्ध-प्रियालुके लिए शान्ति एक निरर्थक शब्दमात्र है, सारे राज्य बिना युद्धकी घोषणा किये एक दूसरेसे युद्ध ही करनेमें व्यस्त है और यह युद्धावस्था सतत जारी है॥" इस वाक्यको पढ़कर हमें चाणक्यके सिद्धान्तका स्मरण हो आता है। चाणक्यके मनमें यही प्रधान बात देख पड़ती है कि पास-पासके राज्योंमें कभी मित्रता नहीं हो सकती, वे सदैव एक दूसरेके परम शत्रु बने रहेंगे। यह सिद्धान्त ठीक हो या न हो, पर यह बात तो पूर्णतया सच है कि शान्ति-स्थापनाकी दुहाई देकर एक बार युद्ध करना शुरू किया तो शान्तिकी स्थापना तो एक ओर रह जाती है, युद्ध ही उस राज्यका मुख्य उद्देश हो जाता है। फिर राज्यके सारे कार्य युद्धके निमित्त समर्पित हो जाते है, विजयके पीछे शत्रुकी समस्त भलाईका ख्याल भूल जाता है। समस्त संसारके

इतिहासने यही बात दर्शायी है और अभी हालके यूरोपीय महायुद्धने भी इस बातकी पूरी पूरी पुष्टि की है। युद्धनीतिसे साहस पैदा हो सकता है, पर साहस केवल एकदेशीय गुण है और बिना आत्मसंयमके वह पंगु हो जाता है। साहसी लोग भले ही बिना चूं-चॉ किये बहुतसे कष्ट सह सके, पर यदि उन्होंने आत्मसंयम नही सीखा है तो समय पड़ने पर वे चाहे जिस विकारके अधीन हो सकते हैं। यदि किसीको युद्ध ही प्रिय है, तो उसे इसके लिए स्वयं राज्यके भीतर यथेष्ट अवसर मिल सकता है। "स्वयं राज्यमें वस्तुतः बहुतसे युद्धोंका सामना हो सकता है जिनके लिए आत्मसंयममूलक साहसकी ही नही वरन् बुद्धिमत्ता और न्यायकी भी बडी आवश्यकता हैं। सत् और असत्का सदासे युद्ध चल रहा है। इसके लिए अन्य सच्चे गुणोंके समान सच्चे साहसकी आवश्यकता है, क्योंकि इन युद्धोंमें विद्या और अविद्याका तथा सामाजिक न्याय और अन्यायका सामना होता है। प्रत्येक राज्यको चाहिये कि वह बाहर दृष्टि फैलानेकी अपेक्षा अन्तर्दृष्टि होकर देखे, विजय और विध्वंस पर वह कम और वास्तविक शान्तिपर तथा आत्मसंयमसे पैदा होनेवाली सम-स्थितिसे स्थापित होनेवाले स्थायी मेलपर अधिक ध्यान दे।"

युद्ध तो वास्तवमें समाजकी रुग्ण दशाका निदर्शन है। जो राज्य युद्ध-नीतिपर चलता है, वह अपने इस कामसे यह बतलाता है कि मैं रोगी और अपूर्ण हूँ। जिस प्रकार कोई पुरुष पूर्णावस्थाको पाये बिना असत्के परिणामोंसे नहीं बच सकता, उसी प्रकार राज्य यदि परिपूर्ण एवं समुन्नत है तो उसमें सुख और शान्ति बनी रहेगी और यदि वह बुरा है तो उसे भीतर-बाहर सदैव युद्धसे सामना करना पड़ेगा। फिर

यह स्मरण रखना चाहिये कि युद्धका प्रारंभ तो बुराईसे होता ही है, पर युद्ध-कालमें भी हमारी कोई भलाई नहीं होती। हम युद्धकी शिक्षाओंकी चाहे जितनी बातें करते रहें, पर सच बात तो यह है कि उससे कुछ भी वास्तविक शिक्षा नहीं मिलती। हमें यहाँपर इंग्लैण्डके सुविख्यात प्रधान मंत्री राबर्ट वालपोलकी एक प्रसिद्ध उक्तिका स्मरण होता है। उसका सदा यही कहना रहा कि युद्धसे कोई लाभ नहीं होता, युद्धके समयमें तो हानि होती ही है, पर युद्धके अन्तमें भी कुछ कम हानि नहीं होती। गत यूरोपीय महायुद्धने अफलातून और राबर्ट वालपोलके सिद्धान्तको सत्य कर दिखाया है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि अफलातून चाहे जिस शर्तपर शान्ति नहीं चाहता और न वह यह ही भूला है कि प्रत्येक राज्यको बाहरी राज्यसे कुछ न कुछ वास्ता पड़ता है और इसलिए युद्धकी संभावना है अवश्य। इसीलिए उसने यह कहा है कि दुर्ग-रचनासे राज्यके सीमा-प्रान्तकी रक्षा करनी चाहिये और उसकी रक्षाके लिए प्रत्येकको कटिबद्ध होना चाहिये—इतना ही नहीं, यह सेवा किये बिना निर्वाचनका मताधिकार किसीको न मिलना चाहिए, सारे नागरिकोंको (समस्त स्त्री-पुरुषोंको) महीनेमें एक दिन युद्ध-क्षेत्रमें उपस्थित होना चाहिये। हाँ, शर्त यह रहे कि युद्ध वास्तवमें केवल आत्म-रक्षाके लिए किया जाय।

अब हम देख चुके कि अफलातूनके 'लॉज' के राज्यका स्वरूप क्या है और यह जान चुके कि इस राज्यको क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये, किन भूलोंसे उसे बचना चाहिये और किस आदर्शको अपनाना चाहिये। हम यह भी बतला चुके हैं कि इस राज्यका मूलाधार दार्शनिक

नियम-विधान है, वह दार्शनिक नियम-विधानपर स्थित है। इससे यह स्पष्ट होगा कि उस राज्यका उद्देश उसके नियम-विधानमें संनिहित होना चाहिये। इसलिए अब हम यह देखेंगे कि अफलातूनने नियम-विधानकी आवश्यकता, उत्पत्ति, विस्तार और प्रभुत्वके विषयमें क्या क्या कहा है।

नियमविधानके बारेमें अफलातूनने कहा है कि वह मनुष्यकी सभ्यताका परिचायक है। वह मनुष्यकी विशेषता है, सदियोंसे मनुष्यने जंगली अवस्थासे ऊपर उठनेका जो दीर्घ प्रयत्न किया है इसकी वह देनगी है। उसकी आवश्यकताके मुख्य दो कारण हैं। पहला कारण यह है कि हमारी व्यक्तिगत बुद्धि इतनी बढ़ी-चढ़ी नहीं हो सकती कि वह सामाजिक जीवनकी सब आवश्यक बातोंको जान सके। दूसरे, यदि यह भी संभव हो कि हमारी व्यक्तिगत बुद्धि इन आवश्यक बातोंको जाननेके लिए समर्थ हो, तो भी हमारा व्यक्तिगत मन उन आवश्यक बातोंके अनुसार चलनेके लिए न तो समर्थ हो सकता है और न चलना ही चाहता है। यानी नियम-विधानकी आवश्यकता पहले इसलिए है कि जिस हितको हम व्यक्तिरूपमें जाननेका प्रयत्न करते है वह हमपर प्रगट हो जाय। हम जिस हितके पीछे लगे हैं वह सामाजिक हित है। सर्व-सामान्य-हित होनेके कारण उससे हम सब समाजमें बंध जाते हैं और इस प्रकार बंध कर उस सर्वसामान्य उद्देशकी प्राप्तिका प्रयत्न करते हैं। इस प्रकारके बंधनसे ही हम अपना निजी व्यक्तिगत हित सिद्ध कर सकते है। लोगोंको यह अलग अलग समझाना कठिन है कि व्यक्तिगत हितकी सिद्धि होनेके लिए यह आवश्यक है कि सब लोग सर्व-सामान्य-हितकी सिद्धि पहिले करें। इसी

कारण मनुष्य-जीवनके लिए नियमविधानकी अत्यंत आवश्यकता है और वही हमारी सभ्यताका परिचायक है। दूसरे, हमारे आलसी मनको नियमविधानकी प्रेरणाकी आवश्यकता होती है। विना इस प्रेरणाके हमारा व्यक्तिगत मन उचित दिशामें चलना ही नही चाहता। लोगोंको सर्वसामान्य-हितका ज्ञान रहा तो भी वे नियम-विधानकी प्रेरणाके विना निजी संकुचित हितकी साधनामें ही रत रहेंगे। कहा जा सकता है कि यदि कोई ऐसा हो सका कि उसे सर्व-सामान्य-हितका भरपूर ज्ञान हो और उस प्रकार चलनेकी उसकी मनः प्रवृत्ति भी हो तो उसे नियम-विधानकी आवश्यकता न रहेगी। परिपूर्ण वुद्धिके ऊपर कोई नियमकी व्यवस्था नहीं हो सकती। वास्तविक स्वतंत्र मन सदा सर्वोच्च वना रहेगा, वह किसीके अधीन नहीं हो सकता। परन्तु यह सव खयाली पुलाव है, केवल मनकी कल्पना है, मनुष्यका ईश्वर वनने जैसी वात ही है। ऐसी परिपूर्ण वुद्धिका पाना करीव करीव असंभव है। इसलिए उससे कम दर्जेकी वात यानी नियम-विधानकी आवश्यकताको स्वीकार करना ही होगा। हम यह मानते हैं कि नियम-विधान स्वतंत्र वुद्धिकी समता नही कर सकता और प्रत्येक अवस्थाकी आश्यकताकी पूर्ति भी उससे नहीं हो सकती, पर जव उस स्वतंत्र परिपूर्ण वुद्धिकी संभावना इस जगत्में है ही नहीं, तव संभाव्य और व्यवहार्य वातको (यानी नियम-विधानको) हमें शिरोधार्य करना ही होगा।

फिर यद्यपि यह सत्य है कि नियम-विधान स्वतंत्र वुद्धिकी वरावरी नहीं कर सकता, तथापि यह तो मानना ही होगा कि वह स्वतंत्र वुद्धिकी उपज है। नियम-विधानसे प्रत्येक सम्भाव्य प्रश्न हल नहीं हो सकता तथापि उसका स्वरूप सर्व-

व्यापी अवश्य रहता है। उससे सारे जीवनका नियंत्रण होता है। जीवनकी बहुत ही कम ऐसी बाते है जिनपर उसकी सत्ता नहीं चलती। जन्म और मृत्यु, विवाह और विच्छेद, सम्मान और अपमान, दण्ड और पारितोषिक, सदाचार और दुराचार, आदि समस्त बातें उसकी शासन-परिधिमें संमिलित है। यदि किसी बातपर वह अधिकार नही चलाता तो उसका कारण यह है कि बातें इतनी छोटी और सूक्ष्म हैं कि उनको कानूनसे बद्ध करना ठीक नही है, उनके विषयके कानून माने न जा सकेंगे, प्रत्युत लोग उन्हें बहुत शीघ्र तोड़ने लगेंगे। इन विषयोंमें लोगोंको स्वतंत्र छोड़ देना ही सर्वोत्तम है। ताकि वे व्यवहारके अनुसार अपना बर्ताव स्वतंत्रतासे कर सकें। यदि यहाँ किसी प्रकारका कायदा हो सकता है, तो वह है व्यवहारका। व्यवहारसे मूल विषयोंके कानूनके अभावकी पूर्ति हो जाती है—उनके लिये व्यवहार ही कायदा है। व्यवहार मानों कानूनकी इमारतकी दीवालमें छोटी छोटी पत्थरोंका काम देते हैं। उनके बिना कानूनकी इमारत बहुत दिनतक न टिक सकेगी। इसलिए कानून बनाते समय व्यवस्थापकको व्यवहारकी रीतियोका विचार करना ही पड़ता है। कानून और व्यवहार परस्पर सम्बद्ध हैं—एकके बिना दूसरेका काम नही चल सकता।

कानून और व्यवहारका परस्पर सम्बन्ध और एक रीतिसे जाना जा सकता है। पहले पहल व्यवहार ही कानूनका काम देता है। धीरे धीरे जब व्यवहारकी रीतियोंकी गुत्थी बन जाती है, रीतियाँ लोगोंपर स्पष्ट नहीं रहतीं, या एक ही विषयकी अनेक रीतियाँ देख पड़ती है, तब कुछ रीतियोंको निश्चित करना पड़ता है, कुछ रीतियोंको कानूनका रूप देना

पड़ता है। इसी तरह कानूनकी, नियम-विधानकी, उत्पत्ति होती है। फिर ज्यों ज्यों जीवनके प्रश्न बढ़ते जाते हैं, त्यों त्यों अनेकानेक कानून बनते जाते हैं। बिना आवश्यकताके कानून नहीं बन सकता, बिना समाजके यह आवश्यकता नही पैदा हो सकती और बिना राजकीय शक्तिके कानून स्थित नहीं रह सकता।

परन्तु जहाँ राजकीय शक्तिकी एकता नहीं है, जिस राज्य-में एक दल राज्य करता है तो दूसरा दल उसका हुक्म मानता है, वहाँ कायदेकी वास्तविक सत्ताकी स्थापना नहीं हो सकती, वहाँ कायदेकी सर्वोच्च प्रभुता नहीं स्थापित होती। उदाहरणार्थ, जहाँपर लोकतंत्र स्थापित हुआ सा जान पड़ता है वहाँ वास्तव में एक दलके लोग दूसरे दलपर शासन करते हैं। शासन-सूत्र-धारी दल समझता है कि लोक यानी प्रजा हम ही हैं और ऐसा समझकर वह दल कायदे बनाया करता है और इस प्रकारके कायदोंसे वह आत्महितकी सिद्धि करता है। वहाँ पर कायदेसे सार्वजनिक हित नहीं, वरन् अधिकारारूढ़ शासनके हितकी सिद्धि होती है। वहाँ यही देखा जाता है कि अधि-कारियोंके अधिकार निर्विघ्न बने रहें। परन्तु जहाँ कानूनकी वास्तविक प्रभुता रहती है, वहाँ ऐसी बात नहीं रहती। वहाँ कानून सर्वोच्च रहता है, और सारी बातें उसके अनुसार की जाती हैं, शासन-संघटन भी उसी प्रकार किया जाता है। वहाँ पर सबके लिए एक कानून रहता है और उससे सबके हित-की सिद्धि होती है। इसी अवस्थामें राज्य स्थायी हो सकता है, अन्यथा उसका विनाश अवश्यम्भावी है।

ऊपरके सिद्धान्तसे यह भी सिद्ध होगा कि नियमविधान की सर्वोच्चता बनी रहनेके लिए उसका अपरिवर्तनशील बना-

रहना, उसमें किसी प्रकारका रद्दोबदल न होना, आवश्यक है। इसके लिए अफलातूनने कुछ मूलभूत विधान (कानून) की कल्पना की है। यह कानून ऐसा होगा कि जिसके अनुसार शासकोंके सारे कार्य चलेंगे और जिसके अनुसार लोग भी अपना जीवन वितावेंगे। उस समयके यूनानमें इस मूलभूत नियमविधानका सिद्धान्त पहिलेसे ही प्रचलित था। अफलातूनने उसे और भी अधिक बढ़ा दिया। तथापि उसे यह स्वीकार करना पड़ा है कि इस मूलभूत नियम विधानमें भी समय समय पर फेर बदल करने पड़ेगे। इसके लिए उसकी यह सूचना है कि नियम-विधानके रक्षक उसकी केवल रक्षा ही न करेंगे किन्तु आवश्यकतानुसार उसमें समय समय पर परिवर्तन भी करेंगे। परन्तु वह राज्यस्थापनाके प्रारम्भकालमें कुछ ही समयतक हो सकेगा। बादमें उसमें तबही परिवर्तन हो सकेगा कि जब समस्त न्यायाधीश और समस्त लोग देववाणीकी अनुमति लेकर परिवर्तन करनेके विषयमें एकमत होंगे। शिक्षाके नियमोंमें परिवर्तन न होने देने पर अफलातूनने खूब ज़ोर दिया है। परिवर्तनकी आवश्यकता माननेपर नियम-विधानमें परिवर्तन करनेके आदर्श पर ही उसने सारा ज़ोर दिया है।

परन्तु जब हम अफलातूनकी बनाई हुई कानूनकी भूमिकाओंका विचार करते है तब कानूनकी दृढ़ताके उपरिलिखित सिद्धान्तका स्वरूप सौम्य हो जाता है। व्यवस्थापकको चाहिये कि वह प्रत्येक कानूनके साथ उसके तत्वोंका विवेचन करनेवाली भूमिका जोड़ दे। उसमें वह लोगोंपर यह प्रगट कर दे कि इस कानूनका पालन करना क्यों आवश्यक है। इससे लोग उसे अवश्य मानेंगे। स्वतंत्र बुद्धिकी आज्ञा मानना आव-

श्यक है, पर लोग बहुधा कार्य-कारण जाननेकी इच्छा करते हैं। इसलिए यदि लोग यह जान सकें कि हमें इस क़ायदेका पालन क्यों करना चाहिये तो फिर उसके पालनके लिए उनपर ज़बर्दस्ती करनेका मौक़ा न आवेगा। इसी प्रकार लोगोंको नीतिकी वास्तविक शिक्षा मिलेगी और उनका नैतिक विकास हो सकेगा। ज़बर्दस्तीसे वह काम न होगा जो, कार्य-कारण समझ कर, सच्चे दिलसे क़ायदेका पालन करनेसे होगा। इस प्रकार ही क़ानूनके पालन करनेकी प्रवृत्ति लोगोंमें पैदा होगी और वह स्थायी बनी रहेगी। समाज-व्यवस्थाके स्थायित्व-का आधार बल नहीं, किन्तु शिक्षा होनी चाहिये। तभी समाज-व्यवस्थाका वास्तविक हेतु सिद्ध हो सकता है।

इन तत्वोंका समावेश न तो निरंकुश एकतंत्रमें हो सकता है और न लोकतंत्रमें ही। उसके लिए चाहिये मिश्रराज्यसंघ-टन। अफलातूनने अपने ढंगसे इतिहास और दंतकथाका उपयोग कर यही सिद्धान्त निकाला है कि व्यवहारमें निरंकुश एकतंत्र अथवा लोकतंत्रसे मिश्र राज्यसंघटन कहीं अधिक अच्छा होता है। इसमें उपरिलिखित व्यावहारिक तत्वोंका समावेश हो सकता है और सबके हितकी सिद्धि हो सकती है। निरंकुश एकतंत्र और प्रजातंत्र दोनों दोषपूर्ण हैं, यद्यपि दोनोंमें कुछ कुछ गुण भी हैं। लोकतंत्रमें स्वतंत्रता अधिक रहती है, पर वहाँ अज्ञलोग विज्ञ बन जाते हैं। निरंकुश एकतंत्रमें स्वतंत्रता मर्यादित रहती है, पर वहाँ बुद्धिका राज्य स्थापित हो सकता है, यद्यपि यह प्रत्यक्ष देखनेमें कम आता है। इसलिए यदि किसी राज्यसंघटनमें दोनोंका मिश्रण किया जा सका—शासककी स्वतंत्र बुद्धिका उपयोग हो सका और लोगोंको स्वतंत्रता मिल सकी तो वहाँ भाईचारेका भाव

पैदा हो सकेगा। और प्रत्येक राज्य-शासनको चाहिये कि लोगोंमें स्वतंत्रता, बुद्धिमत्ता और भ्रातृ-भाव बढ़ावे। यदि यह लोकतंत्र और एकतंत्रके मिश्रणसे सिद्ध हो सकता है तो ऐसा मिश्रण अवश्य करना चाहिये। इसलिए उसने अब लोगोंके अधिकारका विचार बिलकुल न करनेवाला दार्शनिक राजाओंके एकतंत्रका सिद्धान्त त्याग दिया और एकतंत्र तथा लोकतंत्रका संयोग करनेका प्रयत्न किया है। आजकल इस मिश्र राज्यसंघटनका एक अच्छा उदाहरण ब्रिटिश राज्य-संघटन है। पर उस कालमें प्रतिनिधित्वका तत्व था ही नहीं। इसलिए अफलातूनने एकतंत्रके स्थानमें अनेक मैजिस्ट्रेट रख दिये हैं और लोकतंत्रके स्थानमें लोगोंका निर्वाचन-मताधिकार रख दिया है। इसमें वास्तवमें न तो एकतंत्र ही है और न लोकतंत्र ही। अधिकसे अधिक इसे सौम्य कुलीनतंत्र कह सकते हैं। परन्तु इससे इतना तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि अफलातूनके विचारोंमें कुछ परिवर्तन और विकास हो गया है और उसने लोकमतका कुछ सम्मान किया है, लोक-स्वातंत्र्यका तत्व, अल्पांशमें ही क्यों न हो, शासन-क्षेत्रमें संमानित हो चुका है, राज्यशासनका आधार केवल निरंकुश स्वतंत्र बुद्धि नहीं किन्तु लोकमत भी है।

"रिपब्लिक" में उसने लोकमतका विचार नाम मात्रको भी नहीं किया, वहाँ स्वतंत्र बुद्धिकी पूर्ण निरंकुशता प्रतिपादित की गयी थी। 'पोलिटिकस' में लोकमतका विचार उसके मनमें पैदा तो हुआ, पर वहाँ भी उसने कहा कि राज्य-धुरंधुर की स्वतंत्र बुद्धिपर लोकमतका बंधन अनावश्यक है। अब 'लॉज' मे उसने शासककी स्वतंत्रताका कम और शासितोंकी स्वतंत्रताका अधिक विचार किया है। और इसका कारण

स्पष्ट है। 'रिपब्लिक' में श्रम-विभाजनके तत्वके कारण शासकोंके अधिकार निरंकुश बन गये। पर 'लॉज' आत्मसंयमके आधारपर स्थित है। विना स्वतंत्रताके आत्मसंयम नहीं हो सकता। वासनाको बुद्धिसे दवानेके लिए स्वातंत्र्य चाहिये। इसलिए लोकमतका विचार उसे इस ग्रन्थमें करना ही पड़ा। सिद्धान्तमें वह अब भी स्वतंत्र बुद्धिकी उत्तमताको मानता है, उसीको सर्वोच्च वनाना चाहता है। पर जव ऐसी स्वतंत्र, शुद्ध, बुद्धिका अस्तित्व इस जगत्में हो ही नहीं सकता तव वह कहता है कि लोगोंपर उनकी इच्छाके अनुसार ही शासन करना चाहिये। अब उसे व्यक्तिगत कुटुम्ब-व्यवस्था और संपत्तिका अस्तित्व मान्य हो जाता है। इस मत-परिवर्तनमें उसके निजी अनुभवके परिणाम स्पष्ट देख पड़ते हैं। अब उसने अपने आदर्शोंको मानवी स्वभावके आधारपर स्थित किया है। इसीलिए उसकी बतायी यह समाज-व्यवस्था बहुत कुछ व्यवहार्य हो गयी है।

दूसरा अध्याय।

सामाजिक सम्बन्धोंका विचार।

अफलातूनने एक काल्पनिक राज्यकी रचना की है। इस लिए यहाँ सब बातोंकी रचना नये सिरेसे की गयी है। इस राज्यके लोग एक ही स्थानके न होकर भिन्न भिन्न स्थानोंके रहें। इससे यह होगा कि वे इस नये राज्यके नियम-विधान और राज्य-संघटनको पूरा पूरा मानेंगे। वे यदि एक ही स्थानके रहे तो अपने पूर्व स्थानके आचार-विचारोंको यहाँ भी चलानेका

प्रयत्न करेंगे और इसलिए नया नियमविधान अमलमें न आ सकेगा। इस राज्यकी स्थितिका विचार करते समय अफलातूनने जलवायु और भौगोलिक परिस्थितिके परिणामोंपर यथेष्ट ध्यान दिया है। उसने माना है कि जलवायु और भौगोलिक परिस्थितिसे राष्ट्रका शील बनता है। एक बातपर तो वह अधिक जोर देता है। वह कहता है कि राज्य समुद्रसे दूर रहे ताकि लोग विदेशीय व्यापारमें न लग सकें। वह आत्म-निर्भर रहे। न तो उसे किसी बाहरी वस्तुकी आवश्यकता रहे और न वह इतनी उपज पैदा करे कि उसे वह बाहर भेज सके। उसके भीतर लकड़ीकी उत्पत्ति बहुत अधिक न हो। क्योंकि इस पदार्थकी अधिकतासे लोग जहाज बनाने लगेंगे। समुद्र-तटवर्ती राज्य व्यापारमें लगे बिना नहीं रहते और इस व्यापारसे शीघ्र ही उसका पतन हो जाता है। वह चाहता है कि राज्य कृषिप्रधान ही रहे। उसमें न तो बहुत अधिक लोग रहें और न बहुत कम। अफलातून कहता है कि ५०४० लोकसंख्या बहुत ठीक होगी। विभाजनकी दृष्टिसे ही उसने यह संख्या चुनी है क्योंकि इसमें १ से लगाकर १० तक प्रत्येक संख्याका भाग जा सकता है। युद्धके समय इस जनसंख्याको सरलतासे टुकड़ोंमें बाँट सकते हैं और शान्तिके समय कर आदिके लिए भी सरलतासे उसका विभाजन कर सकते हैं। अफलातूनने उसे १२ विभागोंमें बाँटनेके लिए कहा है। इस १२ की संख्याके उसने और अनेक उपयोग बताये हैं। उसमें गणित-मूलक उपयोगका भी विचार अवश्य है। इससे स्पष्ट है कि घूम फिरकर अफलातूनने गणितके उपयोग पर कितना ज़ोर दिया है। परन्तु इन विचारोंसे यहाँ हमारा विशेष सम्बन्ध नहीं है। इतना सारांश ही हमारे लिए यथेष्ट होगा।

समाजके साथ व्यक्तिगत जीवनके सम्बन्धोंका विचार करते समय उसने भिन्न भिन्न तत्वोंके मिश्रण पर भरपूर जोर दिया है। इससे यह स्पष्ट है कि व्यक्तियोंकी विवाह-व्यवस्था तो होनी ही चाहिये, पर भिन्न भिन्न वर्गोंके भिन्न भिन्न स्वभावोंके लोगोंका विवाह उसकी दृष्टिमें अच्छा है। व्यक्तिगत जायदाद तो हो, पर उसपर सार्वजनिक नियंत्रण अवश्य रहे। यदि कोई धनी हो तो वह स्वेच्छापूर्वक अपने धनका गरीबोंके लिए उपयोग करे ताकि झगड़े-फसाद न हों।

इससे स्पष्ट है कि 'रिपब्लिक' में बतायी समाज-व्यवस्थाका उसने यहाँ बहुत कुछ त्याग कर दिया है, यद्यपि अब भी वह कहता यही है कि वहाँ बतायी समाज-व्यवस्था वास्तवमें सर्वोत्तम है। जहाँपर न कुछ 'मेरा' है और न कुछ 'तेरा' है, पर सब कुछ सबका है, वह व्यवस्था वास्तवमें आदर्श है। पर उसकी संभावना न होनेके कारण उससे मिलते जुलते द्वितीय श्रेणीके आदर्शको ग्रहण करना होगा। यहाँ व्यक्तियों-की निजी भूमि और घर तो अवश्य हैं, पर उन्हें सदैव यह सोचना चाहिये कि यह सब कुछ सब लोगोंका भी है। व्यक्ति-विशेषका रहनेपर भी उसका उपयोग सबके लिए होना चाहिये। इसके लिए उसने सार्वजनिक भोजन-व्यवस्थाकी योजना बतायी है जिसमें सब स्त्री-पुरुष शामिल हों और जिसका खर्च सब कोई मिलकर चलावें। यानी, संपत्तिपर अधिकार व्यक्तिका होगा पर उसका विनियोग सबके लिए होगा।

वह कहता है कि भूमिके बराबर बराबर ५०४० भाग किये जायँ और कोई भी व्यक्ति अपने हिस्सेको किसी प्रकार दूसरेको न दे सके। प्रत्येक भागका एक ही मालिक रहे। इसके लिए यह आवश्यक है कि जनसंख्या सदैव ५०४० ही बनी

रहे। यदि किसीके और पुत्र न हो, तो उसे चाहिये कि वह किसी दूसरेके पुत्रको गोद ले ले। यदि जन्न-संख्या घटने लगे (और इसी बातका अफलातूनको विशेष डर था) तो विवाहित लोगोंको इनाम दिये जायँ और अविवाहितोंपर जुर्माना किया जाय। इस प्रकार प्रत्येक भूमि-भागका एक मालिक बना रहे। परन्तु इससे कोई यह न समझे कि सबकी जंगम सम्पत्ति भी बिलकुल बराबर बराबर रहे। वह कहता है कि सबकी सब प्रकारकी संपत्ति समान रहना बहुत ही अच्छा है, पर यह संभव नहीं है। इसलिए प्रत्येक नागरिक अपनी भूमिके मूल्यकी चारगुनी जंगम संपत्ति रख सके, अधिक नहीं। इससे यह स्पष्ट है कि अफलातूनके काल्पनिक राज्यमें एक ओर वह नागरिक रहेगा जिसके अधिकारमें अपनी भूमिके सिवा और कोई संपत्ति नहीं है, तो दूसरी ओर वह नागरिक रहेगा जिसके पास दूसरोंके हिस्सेके बराबर ही अपने भूमिभागके सिवा उसके मूल्यकी चारगुनी पृथक् संपत्ति भी रहेगी। भूमिभागपर अधिकार पाये बिना कोई भी पुरुष नागरिक न हो सकेगा, किन्तु यदि उसके मूल्यकी चारगुनीसे अधिक संपत्ति उसके पास हो जावे तो वह राज्यके खजानेमें संमिलित हो जायगी। भूमिभागके मूल्यसे एक गुनी, दोगुनी, तीनगुनी और चारगुनी तक पृथक्-संपत्तिके अस्तित्वके अनुसार लोगोंकी चार श्रेणियाँ होती हैं। इसीके अनुसार राज्यसंघटनकी रचना बताते समय उसने मताधिकार और उसके उपयोगकी रचना की है। पहले बतला ही चुके हैं कि अफलातून राज्यके सारे जनसमुदायके १२ विभाग करनेको कहता है। प्रत्येक विभागके लोग अलग अलग रहें, पर प्रत्येककी भूमिके दो टुकड़े हों।

उसमें से एक शहरके बीचोंबीच रहे और दूसरा दूर सीमाके पास रहे। ऐसा करनेसे उसका मतलब यह था कि लोग कहीं पर गुट्ट न बना सकें और सबका स्वार्थ सब जगह बँटा रहे। स्मरण रखनेकी बात है कि इंग्लैंडमें भी किसी समय इसी रीतिका अवलंबन किया गया था। नितान्त आधुनिक कालमें प्रथम पेशवा बालाजी विश्वनाथने भी सरदारोंको जागीर देते समय इस तत्वपर अमल किया था।

प्रत्येक नागरिकके पास भूमि तथा कुछ निजी संपत्ति रहनेकी अनुमति तो अफलातूनने दी, पर किसी प्रकारका रोजगार-धंधा कर द्रव्य कमानेसे उसने उन्हें मना कर दिया है। इस प्रकारके धंधे करनेसे लोगोंकी मनोवृत्ति अच्छी न रह सकेगी। इसके अतिरिक्त वह यह भी कहता है कि किसी-के पास सोना चाँदी भी न रहने पावे। हाँ, लेनदेनके लिए सिक्का अवश्य उनके पास रहे। पर कोई ब्याज न ले। यदि कोई अपना रुपया अन्य किसीको देवे ही तो राज्य उसे वसूल करवा देनेके लिए जिम्मेदार न होगा। इस प्रकार नागरिक यदि रोजगार-धंधेसे दूर रहा, सोना-चाँदी उसके पास न रही, धनको वह ब्याजपर न लगा सका तो उसे द्रव्यलोभ न पैदा होगा। फिर वह अपने मन और शरीरका चरम विकास करनेके लिए स्वतंत्र रहेगा। धनदौलतका लोभ इस विकास-का परम शत्रु है। उससे कौनसी बुराइयाँ नही पैदा होतीं? धनसे भी कभी सदाचारका मेल हुआ है? इसलिए राज्यको चाहिये कि वह लोगोंको अधिक मात्रामें धनद्रव्यके पीछे पड़ने-से रोके। इसी तरह उसका और लोगोंका उद्देश सिद्ध होगा। धनद्रव्यसे व्यक्तिगत आचरण बिगड़ता है और राज्यमें लड़ाई-झगड़े पैदा होते हैं। इससे राज्यकी शान्ति और एकता

नष्ट हो जाती है। जिस शासककी यह इच्छा है कि मेरी प्रजा सदाचरणमें रत रहे और मेरे राज्यके भीतर शान्ति बनी रहे, उसे कृषिपर ही अधिक ज़ोर देना चाहिये। किन्तु खेती भी इतनी ही करनी चाहिये जितनी शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए आवश्यक है। ऐसे राज्यमें व्यवस्थापकको बहुत अधिक नियम न बनाने पड़ेंगे, क्योंकि लोगोंके द्रव्यार्जनके उपाय परिमित रहेंगे। इसका अर्थ यह नहीं कि वे सौभाग्यशाली न समझे जा सकेंगे। व्यर्थके झगड़ोंसे बचना क्या सौभाग्यकी बात नहीं है? इस प्रकार जो समय मिलेगा, वह निजी मानसिक और शारीरिक विकासमें लग सकेगा। यहाँ प्रत्येककी निजी भूमि है, गुलाम लोग उसकी खेती-बारी कर देते हैं और उपजका कुछ हिस्सा लगानके बतौर अपने स्वामीको देते हैं; सारे नागरिक एकत्र हो भोजन करते हैं, वे अपने मन और शरीरका परिपूर्ण विकास करनेको स्वतंत्र हैं। क्या यह कम सौभाग्यकी बात है? तथापि अफलातून मानता है कि यह व्यवस्था पूर्णादर्श नहीं है, यह केवल द्वितीय श्रेणीका आदर्श है। परन्तु यदि भली-भाँति विचार किया जाय तो यह आदर्श भी केवल आदर्श ही जान पड़ता है, उसके व्यवहारमें आनेकी आशा कम है। संपत्तिपर जो बंधन लगाये गये हैं, मर्यादासे अधिक द्रव्यको उनसे लेनेकी जो बात कही गयी है अथवा प्रत्येक नागरिकके भूमिभागके दो टुकड़े करनेकी जो रीति बतायी गयी है, वह कदाचित् किसी मनुष्यको पसंद न होगी। अफलातूनने भी यह बात स्वीकार की है, परन्तु साथ ही उसने कहा है कि पहले पहल किसी भी आदर्शका विवेचन आदर्श जैसा ही करना चाहिये। व्यवहारके प्रश्नोंके कारण उसमें पहलेसे काट-

छाँट करना ठीक नहीं है। परन्तु इस स्वीकृतिसे इतना तो अवश्य सिद्ध होता है कि 'लॉज'का आदर्श भी केवल आदर्श है, 'रिपब्लिक'के पूर्णादर्शके समान यह भी इसी रूपमें व्यवहार-में नहीं आ सकता। अफलातूनके पक्षमें इतना कहना उचित होगा कि इस व्यवस्थाके मौलिक तत्वोंमें कुछ विशेषता अवश्य है, किसी न किसी रूपमें कहीं न कहीं और कभी न कभी उनपर अमल अवश्य हुआ है।

हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि उपरिलिखित व्यवस्थामें एक बड़ा भारी कलंक यह है कि वह गुलामीके आधारपर स्थित है। चाहे वे ज़मीनके किसान वेशधारी नौकर ही क्यों न हों, वे गुलाम या दास अवश्य हैं। यद्यपि अफलातूनने कहा है कि इन गुलामोंको अच्छी तरह रखना चाहिये, इनसे उदारता और दयाका वर्ताव करना चाहिये, तथापि यह कहना ही पड़ता है कि इससे कलंक दूर नहीं होता, वह केवल सौम्य हो जाता है। फिर जब हम यह ख्याल करते हैं कि निजी लोगोंको नहीं, वरन् वाहरी लोगोंको, भिन्न भिन्न भाषा-भाषी विदे-शियोंको, गुलाम बनानेके लिए उसने कहा है, तब तो हम गुलामोंके प्रति उसकी उदारता बिलकुल भूल जाते हैं। उसकी ऐसी समझ ही थी कि विदेशी लोग मानसिक विकासमें यूना-नियोंकी बराबरी नहीं कर सकते, यूनानियों जैसा उनका मान-सिक विकास नहीं हो सकता। उसके मतका सार यह है कि गुलाम लोग यूनानियोंसे एक प्रकारके बिलकुल भिन्न प्राणी हैं। आज इस मतको कोई भी स्वीकार नहीं कर सकता। जो व्यवस्था गुलामोंके अस्तित्वपर स्थित हो, वह कलंकपूर्ण है। वह आदर्शके उच्चासनसे च्युत हो जाती है और कमसे कम सिद्धान्त रूपमें तो आजका 'सभ्य' संसार उसे नहीं ही मान

सकता। वैसे तो प्रत्यक्ष व्यवहारमें आज भी खासी गुलामी प्रचलित है और कदाचित् अफलातूनके गुलामोंसे इन गुलाम न कहे जानेवाले गुलामोंकी दशा कई दर्जे बुरी है। फिर भी प्रत्यक्ष सिद्धान्तमें आजका सभ्य संसार गुलामीकी प्रथाका समर्थन नहीं करता।

हम ऊपर कह चुके हैं कि अफलातूनके विचारानुसार नागरिकोंको द्रव्यलोभकी छूतसे बचनेके लिए कोई रोजगार-धंधा न करना चाहिये। परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि राज्यमें किसी प्रकारका रोजगार-धंधा चले ही नहीं। यदि विदेशी लोग वहाँ रोजगार-धंधा करें तो बुरी बात नहीं है। 'लाज' में भी एक प्रकारका श्रम-विभाजन है। 'नागरिक लोग' शासनकार्य करें और अपने शारीरिक तथा मानसिक विकासमें रत रहें, गुलाम खेती करें, और 'विदेशी लोग' रोजगार-धंधा करें। इस प्रकार हम देखते हैं कि अन्तमे यहाँ भी लोगोंका एक प्रकारका वर्गीकरण, जातिभेद, आ ही गया, 'रिपब्लिक' के मूलभूत तत्वका प्रतिपादन हो ही गया। यही नहीं, उसने यह भी कहा है कि कोई भी विदेशी एकही रोजगार-धंधा करे। इससे प्रतीत होता है कि श्रमविभाजनके तत्वको ही उसने दूसरे रूपसे इस ग्रंथमें भी प्रतिपादित किया है। आगे चलकर उसने ऐसी व्यवस्था बतायी है कि प्रत्येक ग्राममें भी प्रत्येक रोजगार-धंधेका एक एक विदेशी पुरुष अवश्य रहे। यही नहीं, उसने विदेशी व्यापारको भी थोड़ा बहुत स्थान अवश्य दिया और यह व्यापार स्वतंत्रतासे चलने देनेको कहा है। न तो वहाँ आयात-कर रहे और न निर्यात-कर। हाँ, रंग, मसाले जैसी अनावश्यक विलाससामग्री राज्यमें न आने देनी चाहिये और स्वयं राज्यके लिए जो सामग्री आवश्यक हो, उसे देशसे बाहर

न जाने देना चाहिये। विदेशी लोग राज्यमें रहेंगे, इसलिए उन्हें खाद्य-सामग्री लगेगी। यह खाद्य-सामग्री नागरिक लोग उन्हें बेचें, पर उससे धन कमानेके लोभमें वे न पड़ें। छोटे छोटे व्यापारी रहें, पर वे धन बढ़ानेकी चिन्तामें न लगें। अफलातूनने जिस प्रकार धनपर व्याज लेनेका निषेध किया है उसी प्रकार चीजें उधार देना भी मना किया है। यदि कोई चाहे तो वह भले ही अपनी जिम्मेदारीपर कर्ज दे, पर राज्य उसे वसूल न करवायगा। मैजिस्ट्रेट लोग वस्तुओंकी कीमत नफा आदि निश्चित कर देंगे और वे बदले न जा सकेंगे। सारा लेनदेन खुले बाजारमें होगा। वस्तुओंमें किसी प्रकारका मिश्रण कर उन्हें बिगाड़ना दण्डनीय होगा।

इस विवेचनसे यह स्पष्ट हो गया होगा कि अफलातून नागरिकोंको रोजगार-धंधेसे, लेनदेनसे, यदि बरी रखना चाहता है तो इसका कारण यह नहीं कि उन्हें वह कुलीन दर्जेका बना रखना चाहता है। उसका मतलब यह है कि वे नीतिपूर्ण, सदाचारी, बने रहें। अनावश्यक रूपसे द्रव्यके पीछे लगनेसे मनुष्यकी नीति ठीक नहीं रह सकती। कुछ संपत्ति प्रत्येकके लिए आवश्यक है, इसके बिना किसीका काम नहीं चल सकता। पर बिल्कुल धनके पीछे पड़ जानेसे नैतिक अधोगति प्रारम्भ हुए बिना न रहेगी। अफलातूनके कहनेमें सत्यका बहुत कुछ अंश है। जिसे आत्मिक विकास उद्दिष्ट है, उसे द्रव्यके पीछे बहुत न पड़ना चाहिये। अत्यधिक द्रव्योपार्जन और आत्मिक विकासका मेल कभी नहीं हो सकता। हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्थामें ब्राह्मणोंको जो अधिक द्रव्यार्जनसे दूर रखा था, या चतुराश्रम-व्यवस्थाके तीसरे और चौथे आश्रममें द्रव्य-संगतिसे दूर रहनेके लिए कहा था, उसका भी उद्देश्य

वही रहा होगा जो अफलातूनके उपरिलिखित सिद्धान्तका है, ऐसा स्पष्ट देख पड़ता है। जो लोग ऐसी रीतियोंसे द्रव्यार्जन करते हैं जिनसे द्रव्यलोभ बढ़नेकी संभावना है, वे अपने आत्मिक विकासपर ध्यान देंगे, ऐसी संभावना कम है। यह सिद्धान्त सदैव सत्य रहेगा। फिर भी, जैसा ऊपर कह चुके हैं, उसके लिए गुलामीकी प्रथा नितान्त आवश्यक नहीं कही जा सकती। संतोषपूर्ण मनसे श्रम करते हुए द्रव्योपार्जन करना किसी प्रकार हीन दर्जेका काम नही कहा जा सकता। हॉ, व्यापार-धंधे या रुपयोंका लेनदेन मनुष्यको बिगाडे बिना न रहेगा। आत्मिक विकासके इच्छुकको इनसे दूर रहना उचित है। इसीसे ब्राह्मणोंके लिए यह बात वर्ज्य थी और अफलातूनने भी अपने नागरिकोंके लिए इसे वर्ज्य कहा है। समस्त जगत्का अनुभव भी यही बताता है। हॉ, कारीगरीके छोटे छोटे धंधोंमें द्रव्यलोभकी अधिक बुराई नही पैदा हो सकती। कदाचित् अफलातूनने भी कहा है कि जिन बच्चोंको आगे किसी कलाके धंधेमें, उदाहरणार्थ, बढ़ईगिरी या शिल्पमें, पड़ना है उन्हें पहलेसे उसका अभ्यास करना आवश्यक है। सारांश यह है कि जिन धंधोंसे नैतिक अधोगतिका डर अधिक है वे आत्मिक विकासके इच्छुक लोगोंको वर्ज्य हैं, शेष धंधोंको वे अपना सकते हैं।

अब हम गृहव्यवस्थाका विचार करते हैं। इस सम्बन्धमें जो पहली बात हमें स्मरण रखनी चाहिये वह यह है कि 'रिपब्लिक' के समान यहॉ भी स्त्रियोंको सब बातोंमें पुरुषोंके बराबर ही बताया है। वे भी सहभोजमें सम्मिलित हों। आवश्यक हो तो पुरुष अलग बैठें, स्त्रियाँ पास ही अलग बैठें। पुरुषों जैसी शिक्षा उन्हें भी मिलनी चाहिये। कसरत, कवायद,

टूर्नामेण्ट आदिमें स्त्रियाँ भी भाग लें। समय पड़ने पर वे युद्धमें भी संमिलित हो सकें, इसलिए सैनिक शिक्षाका अभ्यास उन्हें भी करना चाहिये। पर अफलातूनने यह नहीं बताया कि उन्हें राज्य-कर्मचारी भी बनना चाहिये या नहीं और निर्वाचनका मताधिकार उन्हें होना चाहिये या नहीं। हाँ, विवाहके सम्बन्धके कर्मचारियोंके पद उन्हें देनेके लिए अवश्य कहा है। कह नहीं सकते कि इस बातका विचार भूलके कारण रह गया अथवा उसने उन्हें राजकर्मचारी बनने और निर्वाचनमत देनेके योग्य ही नहीं समझा।

अफलातूनने विवाह-कार्यपर राज्यके यथेष्ट नियंत्रणकी सलाह दी है। उसका कहना है कि प्रत्येक पुरुषकी एक ही पत्नी होनी चाहिये। विवाहके लिए उसने यह आवश्यक बताया है कि तरुण और तरुणियोंमें पहले परस्पर प्रेम पैदा हो। इसके लिए प्रत्येक महीनेमें एक धर्मिक समारंभ होना चाहिये। यहाँपर तरुण-तरुणियाँ परस्पर परिचित हों और उनमें प्रेम-भाव पैदा होवे। विवाहके पहले युवक-युवतियाँ एक दूसरेको वस्त्रविहीन होकर देख लें। और उसने यह भी सुझाया है कि अपनी तन्दुरुस्तीका पूरा बयान भी वे एक दूसरेसे करें। उसने यह प्रतिपादित किया है कि विषम स्वभावोंके युवक-युवतियोंमें विवाह होना लाभदायक है। मिश्रणके तत्वका उपयोग उसने यहाँ भी रखा है। गरीबोंके विवाह धनी लोगोंसे, उतावले स्वभावके लोगोंके विवाह शान्त स्वभावके लोगोंसे होने चाहिये। इस सबमें यह उद्देश होना चाहिये कि विवाह करना तथा लड़के-बच्चे पैदा करना समाजहितके लिए आवश्यक है और इसलिए ऐसा करना प्रत्येकका कर्तव्य है। संतति-प्रजननको उत्तेजना देनेके लिए निरीक्षिकाओंकी नियुक्ति

भी उसने सुझायी है। माता-पिताको कुछ विशेष अधिकार दिये जायँ और उनका भिन्न भिन्न प्रकारसे सम्मान किया जाय। जो पैंतीस वर्षकी अवस्थाके बाद अविवाहित बने रहें, उन्हें दण्ड दिया जाय।[*]

अफलातूनने यह भी कहा है कि जिनके अधिक लड़के हों उनकी संतानकी वृद्धि रोकनी चाहिये। जैसा कि हम ऊपर बता ही चुके है, अफलातूनको इस बातकी आवश्यकता सदैव मालूम होती रही कि मनुष्य-संख्या तथा नागरिकोंकी संख्या सदैव एकसी बनी रहे। इसके लिए कहीं उत्तेजनकी और कहीं नियंत्रणकी आवश्यकता होगी। बच्चे अच्छे होनेके लिए आवश्यक है कि माता-पिता मन और शरीरसे स्वस्थ रहें। उसने यह भी बताया है कि "पति-पत्नी मा-बापसे अलग होकर अपने निजी घरमें रहें, संतति उत्पन्न कर उनका पालन पोषण करें, इस प्रकार पीढ़ी दर-पीढ़ी जीवन-प्रकाश फैलाते रहें और नियमके अनुसार देवोंकी उपासनादि करते रहें।" यदि पति-पत्नीमें स्वभावोंकी भिन्नताके कारण मेल न रहे और निरीक्षिकायें उनमें किसी प्रकार मेल न करा सकें तो विवाह-विच्छेद होना बुरा नहीं। विज्ञ पाठकोंपर यह प्रगट हो ही गया होगा कि विवाह होनेपर पत्नीको लेकर माता-पितासे पतिके अलग रहनेकी पद्धति तथा विवाह-विच्छेदकी प्रथा हिन्दुओंकी मूल रीति और विचारके विरुद्ध है। हम यहाँपर इसकी भलाई-बुराईका विचार नही करना चाहते। यह बात अभी हम पाठकोंपर ही छोड़ देना चाहते है।

---

[*] आजकल भी फ्रान्स जैसे कुछ देशोंमें इसी बातके लिए दण्ड और पारितोषिककी प्रथा चल निकली है।—लेखक

तीसरा अध्याय ।

शासन-व्यवस्था ।

अफलातूनके इस काल्पनिक समाजकी शासन व्यवस्थामें जो पहली बात ध्यानमें रखने लायक है वह यह है कि नियम-विधानकी प्रभुता सर्वोच्च है, उसके ऊपर और किसीका प्रभुत्व नहीं। इसका यह भी अर्थ है कि उस नियम-विधानके बदलने-का या उसमें कुछ भी परिवर्तन करनेका अधिकार किसीको नहीं है। सारी शासन-संस्थाओंकी रचना इस नियम-विधानके अनुसार करनी चाहिये। इससे स्पष्ट है कि जिस प्रकार आज-कल प्रत्येक राज्यमें बहुधा कोई न कोई शासन-संस्था ऐसी होती है जो क़ानूनको बदल सकती है और इस प्रकार जिस-की सत्ता क़ानूनके भी ऊपर होती है, उस प्रकार अफलातूनके काल्पनिक राज्यमें कोई संस्था नहीं है।

हम पहले एक स्थानपर बतला चुके हैं कि अफलातूनने एक नितान्त नवीन राज्यकी स्थापनाकी कल्पना की है। इस नवीन समाजके लोग भिन्न भिन्न स्थानोंसे आये हुए रहेंगे और इस कारण उनके कोई क़ानून-क़ायदे न रहेंगे। इसलिए प्रारंभमें एक निरंकुश शासक तथा तत्वदर्शी व्यवस्थापककी आवश्यकता होगी। ये दोनों मिलकर नियम-विधान बनावेंगे और लोगोंपर ये उसका अमल करेंगे। इस अमलके लिए कभी बलका, और कभी निज आचरणके उदाहरणका उपयोग करना होगा। परन्तु अफलातून अपने ग्रंथके छठवें भागमें यह बताता है कि एक निरंकुश शासकके स्थानमें उस समाजके कुछ संस्थापक रहेंगे और व्यवस्थापकसे मिलकर ये सब इस नये

राज्यकी व्यवस्था इत्यादि करेंगे। इस नवीन राज्यके लोग पहले पहल एक दूसरोंसे अपरिचित रहेंगे। इसलिये वे यह न जान सकेंगे कि किसे किसे पदाधिकारी बनाना चाहिये। नियमविधानके हेतु आदि न जाननेके कारण वे स्वयं उसके अनुसार ठीक ठीक अमल न कर सकेंगे। इसलिए उन्हें चाहिये कि वे नियमविधानका रक्षक-मंडल चुनें। इस रक्षक-मंडलके बहुतेरे सदस्य उन्हीं नव समाज संस्थापकोंमें से रहेंगे। कुछ कालके लिए २०० सदस्योंका एक और मण्डल रहेगा। इसका काम अन्य मैजिस्ट्रेटोंके चुनावपर देखरेख रखना और उन्हें पदाधिकारी बनानेके पहले उनकी अच्छी जाँच पड़ताल करना होगा। इतना हो जाने पर यह समझो कि नवीन समाजकी स्थापना हो गयी अब वह राज्य अपने काम-को भली भाँति सँभाल सकेगा और अपनी शासन पद्धतिको स्थायी स्वरूप दे सकेगा।

सुस्थापित राज्यमें पहले तो लोक-सभा रहेगी। प्रत्येक नागरिक इसका सदस्य रहेगा। हम बतला चुके हैं कि प्रत्येक नागरिककी भूमि ही नहीं बरन् कुछ निजी जायदाद भी रहेगी जो भूमिकी कीमतकी चारगुनी तक हो सकेगी। इस निजी जायदादके अनुसार नागरिकोंके चार वर्ग भेद होंगे। लोक सभाके अधिवेशनमें प्रथम दो वर्गोंके नागरिकोंका आना अनि-वार्य होगा, पर शेष दो वर्गोंका आना ऐच्छिक रहेगा। परन्तु यदि किसी नागरिकके पास शस्त्र न हों और उसने सैनिक शिक्षा न पायी हो, तो वह लोकसभामें संमिलित न हो सकेगा। इस नियममे किसी तरहका भेदाभेद न रहेगा। इस लोक-सभाका बहुतेरा काम निर्वाचन सम्बन्धी रहेगा। वह नियम-विधानके रक्षक-मण्डलको, विचार-सभाको तथा भिन्न भिन्न

शासकोंको चुनेगी। इसके अतिरिक्त वह सेनाके सेनापतियों-को तथा कुछ स्थानीय पदाधिकारियोंको भी चुनेगी। नियम-विधानके रक्षक-मंडलमें सैंतीस सदस्य रहेंगे और वे तीन वारके मत-प्रदान-पद्धतिसे चुने जावेंगे। पहली वार २०० उम्मेदवार चुने जावेंगे। दूसरी वार इनमेंसे १०० चुने जावेंगे और तीसरी वार इनमेंसे ३७ चुने जावेंगे।

विचार-सभाका निर्वाचन कुछ अधिक पेंचीदा है। इसमें ३६० सदस्य रहेंगे और ऊपर बताये चार वर्गोंमेंसे प्रत्येक वर्गके नव्वे नव्वे प्रतिनिधि रहेंगे। पहले पहल लोक-सभा द्वारा उम्मेदवारोंका चुनाव करना होगा। यह स्पष्ट ही है कि यहाँ किसी व्यक्ति या गुट्टके द्वारा नामज़द करनेका चलन न रहेगा। भिन्न भिन्न वर्गके उम्मेदवार भिन्न भिन्न रीतिसे चुने जावेंगे। प्रत्येक वर्गके नागरिकोंका यह काम होगा कि वे प्रथम दो वर्गोंके उम्मेदवारोंको चुननेमें भाग लें। यदि वे ऐसा न करें तो उन्हें दण्ड मिलेगा। तीसरे वर्गके उम्मेदवारोंको चुननेमें प्रथम तीन वर्गके नागरिकोंको अवश्य भाग लेना होगा, पर चौथे वर्गके नागरिक भले ही इनके निर्वाचन-कार्यमें भाग न लें। चौथे वर्गके उम्मेदवारोंको चुननेमें प्रथम दो वर्गोंके लोगोंको अवश्य भाग लेना होगा, पर शेष दो वर्गके लोग चाहें तो उसमें भाग न लें। इस प्रकार प्रत्येक वर्गके उम्मेद-वारोंको चुन लेनेपर उन्हींमेंसे दूसरा चुनाव होगा। इस वार प्रत्येक नागरिकको चुनावमें भाग लेना होगा और उन उम्मेद-वारोंमेंसे प्रत्येक वर्गके केवल १८० लोग चुनने होंगे। तीसरी वार प्रत्येक वर्गके इन १८० लोगोंमेंसे चिट्ठी डाल कर ९० लोग चुने जावेंगे। इस प्रकार चार वर्गोंके कुल ३६० सदस्योंका विचार-सभाके लिये चुनाव होगा।

यह स्पष्ट ही है कि इस निर्वाचन-कार्यमें प्रथम दो वर्गोंका अधिक प्रभाव रहेगा। तथापि यह भी मानना होगा कि चाहें तो प्रथम उम्मेदवारोंको चुननेमें सारे नागरिक भाग ले सकते हैं। दूसरे चुनावमें सबको भाग लेना अनिवार्य है। तीसरी बार समता स्थापित करनेके लिए चिट्ठियों द्वारा चुनाव बताया है। इस प्रकार दो निर्वाचन पद्धतियोंका इसमें संमिश्रण है। इसमें सार्वलौकिक मताधिकार तो है ही, पर लोकवर्गमूलक मताधिकार भी है। लोकतंत्रात्मक चुनावके साथ साथ कुलीन-तंत्रात्मक चुनाव भी है। कुलीनवर्गोंके प्रभावका कारण यह है कि निर्वाचनादि कार्य वर्गके महत्वके अनुसार होने चाहिये। अफलातूनके मतानुसार वास्तविक समता इसीमें है, इसी प्रकारकी समता न्याय्य है, इसीसे राज्यमें मेल और स्थायित्व हो सकते हैं। क्योंकि जहाँके नागरिक यह सोचते रहें कि योग्यताके अनुसार अधिकार नहीं मिलते वहाँ शान्तिकी स्थापना होना कठिन है। तथापि शान्तिके लिए यह भी आवश्यक है कि लोगोंको परस्परमें बहुत अधिक भेद न जान पड़े। इसीलिये चिट्ठी डालकर चुननेकी पद्धतिमें सार्वदेशीय समता स्थापित कर दी गयी है।

अफलातूनके समताके तत्वकी कुछ आलोचना करना आवश्यक है। वह कहता है कि योग्यताके अनुसार अधिकार प्राप्त होना ही वास्तविक समता है, और यह योग्यता धनपर अवलंबित देख पड़ती है। परन्तु प्रश्न हो सकता है कि क्या धनके अनुसार योग्यता भी आ जाती है। क्या निरक्षर भट्टाचार्य अथवा दुर्गुणभाण्डार लक्ष्मीपति नहीं होते? क्या ऐसे लोगोंको अधिक अधिकार प्राप्त होना वाञ्छित है? यदि यह मान भी लिया कि अधिक योग्य लोगोंको अधिक अधिकार प्राप्त

होने चाहिये, तौ भी यह तो नहीं मान सकते कि अधिक धनसे अधिक योग्यता भी आ ही जाती है। धन और योग्यताका कोई अङ्गांगी सम्बन्ध नहीं है। धनके अनुसार समाजमें राजकीय अधिकार प्राप्त होना कभी अच्छा नहीं कहा जा सकता। इसमें शिक्षाका महत्व तो है ही नहीं, पर मनुष्यत्वका भी मान नहीं है। वस्तुओंका मूल्य वस्तुओंकी अधिकता या कमी तथा माँग पर अवलंबित रहता है। इस प्रकार लोग धनी या गरीव हो सकते हैं। इसलिए यह तत्व कि धनके अनुसार मनुष्यको राजकीय अधिकार मिलें, कभी अच्छा नहीं कहा जा सकता। वास्तविक राजकीय समता इसीमें है कि लोग किसी वातमें बरावर रहें या न रहें, पर सवके राजकीय अधिकार और कानूनकी दृष्टिमें सवकी स्थिति समान रहे। लोगोंकी समताकी जाँच और किसी प्रकार नहीं हो सकती। मनुष्य होनेके कारण ही सव मनुष्य समान होने चाहिये—समताका मुख्याधार मनुष्यत्व ही है।

भिन्न भिन्न प्रकारके चुनावके सिवा लोकसभाके हाथमें और तीन काम हैं। यदि कोई मनुष्य राज्यके विरुद्ध कोई अपराध करे, तो उसपर वह विचार करेगी। यदि नियम-विधानमें कभी किसी परिवर्तनकी आवश्यकता हो तो उसकी अनुमति इसके लिए आवश्यक होगी। विदेशियोंको राज्यमें वीस वर्षसे अधिक रहनेकी परवानगी देनेका अधिकार भी उसे रहेगा। परन्तु रोजमर्राके कामोंके विचारोंका कार्य उसके हाथमें न रहेगा और यह स्पष्ट ही है कि ऐसी वड़ी सभासे ऐसा कार्य नहीं हो सकता। प्रति वर्ष चुनी जाने वाली विचार-सभाके हाथमें यह कार्य रहेगा। इस सभाके १२ भाग किये जावेंगे और प्रतिमास इसका एक भाग शासन-कार्यकी देख-

रेख करेगा। ये ही भाग विदेशियों और नागरिकोंसे सलाह-मशविरा करेंगे और उनका कहना सुनेंगे तथा ये ही लोक-सभाके साधारण और विशेष अधिवेशन करावेंगे। परन्तु ये अपना कार्य शासक-मण्डलके सदस्योंकी अनुमति लेकर किया करेंगे।

शासक-मण्डलके सदस्यों यानी मैजिस्ट्रेटोंकी संख्या सैंतीस रहेगी। ये ही नियम-विधानके रक्षक होंगे और अपने पदपर बीस वर्षतक बने रहेंगे। पचास वर्षकी अवस्थामें ही कोई इस पदपर आरूढ़ हो सकेगा और सत्तर वर्षकी अवस्थाके बाद उससे उसे दूर होना होगा। इनमेंसे एक व्यक्ति सबोंका प्रधान होगा और उसके हाथमें शिक्षाका समस्त कार्य रहेगा यानी वह शिक्षामंत्रीका काम करेगा। वह अपने पदपर केवल पाँच वर्ष रहेगा। यह स्पष्ट ही है कि उसका पद अत्यन्त महत्वका है और इस कारण वह ऐसा पुरुष रहेगा जो राज्यमे सर्वश्रेष्ठ हो। अफलातूनके इस काल्पनिक समाजका मुख्याधार उसकी शिक्षापद्धति है। इसलिए यह सर्वश्रेष्ठ कार्य राज्यके सर्वश्रेष्ठ पुरुषके हाथमे होना आवश्यक और स्वाभाविक है।

अब हम अफलातूनके इस काल्पनिक राज्यकी न्यायव्यवस्थाका वर्णन करेंगे। न्यायव्यवस्थाके लिए पहले सारे मामलोंके दो भाग किये गये हैं: (१) खानगी मामले और (२) सार्वजनीन मामले। खानगी मामलोंकी तीन श्रेणियाँ और न्यायालय बताये है। पहले, आसपासके लोगो और मित्रोंकी पंचायत है। यह योग्यतम न्यायालय है, क्योंकि इसे मामलेकी सारी बातें भलीभाँति मालूम रहती हैं। इसके ऊपर राज्यके बारह विषयविभागकी अलग अलग अदालतें है। इसके न्यायाधीश चिट्ठी द्वारा चुने जाने चाहिये। इस प्रकार इसमें

लोकनियंत्रणका तत्व संमिलित है। इससे सब लोगोंको यह मालूम होता रहेगा कि हम भी राज्यमे 'कोई' है। तीसरे दर्जे-की अदालतमें कुछ चुने हुए न्यायाधीश रहेंगे जिन्हें प्रतिवर्ष मैजिस्ट्रेट लोग चुना करेंगे। इस न्यायालयके कामको सबलोग देख सकेंगे, प्रत्येक न्यायाधीश अपना मत खुले तौरसे देगा। सारे मैजिस्ट्रेटोको न्याय-विचारके समय उपस्थित होना होगा। सार्वजनीन स्वरूपके मामले लोकसभाके हाथमे रहेंगे। राज्यके विरुद्धका अपराध सारे लोगोंके विरुद्ध ही है, इस लिए समस्त लोगोंको ही उसपर विचार करना चाहिये। उस मामलेकी जॉच-पड़ताल तीन मुख्य मैजिस्ट्रेट करेंगे, पर न्याय-विचारका समस्त कार्य लोकसभाके हाथमें रहेगा।

इस छोटेसे राज्यमें स्थानीय अधिकारियोंकी विशेष आव-श्यकता नहीं देख पड़ती। यहॉ नगर-निरीक्षक तथा बाजार-निरीक्षक अवश्य हैं। देहातके प्रत्येक भागके लिए देहाती निरीक्षक भी रहेंगे। इनकी संख्या पॉच रहेगी, वे अपने अपने भागसे चुने जावेंगे और अपने पदपर दो सालतक रहेंगे। इन-का कुछ कार्य तो शासनसम्बन्धी और कुछ कार्य न्याय-सम्बन्धी रहेगा। ये लोग अपने अपने लिए बारह बारह तरुण साथी चुन लेंगे। इन्हें शिक्षा देनेका कार्य निरीक्षकोंके ही जिम्मे रहेगा। ये निरीक्षक एक ही स्थानमें बंधे न रहेंगे। प्रत्येक पंच-निरीक्षकदल अपने पदकालमें दो चार समस्त राज्यका, बायेंसे दायें और दायेंसे बायें, दौरा करेगा। इस समय निरीक्षकोंके साथ उनके साथी भी रहेंगे और राज्य-स्थितिका ज्ञान प्राप्त करेंगे। राज्यकी रक्षाके लिए यदि कोई खंदक बनाने हों, सड़कें बनानी हों, पानीका ठीक ठीक प्रबंध करना हो, या सिंचाईकी व्यवस्था करनी हो, तो इन समस्त कार्योंके लिए मज़दूरोंका

प्रबंध करना इन निरीक्षकोंका काम होगा। नगर-निरीक्षक तीन रहेंगे। वे प्रथम वर्गसे चुने जावेंगे, और पाँच बाजार-निरीक्षक प्रथम दो वर्गोंसे चुने जावेंगे। परन्तु किसी भी नागरिकको किसीका भी नाम उम्मेदवारके लिए सुझानेका अधिकार रहेगा। फिर, जितने पदाधिकारी चुनने हों उनके दुगने लोग इन उम्मेदवारोंमेंसे चुने जावेंगे और उनके चुनावमें सब नागरिकोंको भाग लेना होगा। आवश्यक संख्याका अन्तिम चुनाव चिट्ठी द्वारा होगा। नगर-निरीक्षकोंके हाथमें नगरकी इमारतों, सड़कों, पानी आदिकी देख-भाल रहेगी। बाजार-निरीक्षकोंके हाथमे बाजारकी इमारतों और कामोंकी देखभाल रहेगी। दोनों प्रकारके निरीक्षकोंके हाथमें कुछ न्याय-विचारका भी कार्य रहेगा।

इस शासन-व्यवस्थाकी मुख्य बातें आथेन्ससे ली गयी हैं। परन्तु सामाजिक सम्बन्धादि स्पार्टासे लिये गये है। इस प्रकार इस राज्यकी रचना आथेन्स और स्पार्टाकी बातोंका बहुत कुछ मिश्रण है। सारांश यह है कि अफलातूनने इसमें दो भिन्न भिन्न प्रकारकी समाज-व्यावस्थाओंका संमेलन करनेका प्रयत्न किया है।

अफलातूनकी बतायी शासन-व्यवस्थाका वर्णन हम संक्षेपमें कर चुके। साथ ही, स्थान स्थानपर थोड़ी बहुत आलोचना भी कर चुके हैं। परन्तु अब हम कुछ विशेष विस्तारसे उसकी आलोचना करना चाहते है। इस व्यवस्थामें एक लोकसभा, एक निर्वाचित विचार-सभा और मैजिस्ट्रेटोंका मण्डल है, सैनिक अधिकारी है, न्यायालय हैं और स्थानीय अधिकारी भी हैं। लोकसभाकी रचना वर्ग-भेदके आधारपर की गयी है। कुछ वर्गोंके लोगोंको सभाओंमें सदैव उपस्थित होना आवश्यक

है, कुछ वर्गोंके लोगोंको उपस्थित होना या न होना, कभी कभी, उनकी इच्छापर निर्भर है। विचारसभाके बारह भाग हैं। प्रत्येक भाग एक एक महीना अधिकारारूढ़ रहता है। इस सभाके निर्वाचनमें धनकी प्रतिष्ठा तथा लोकमतको और स्वतंत्र चुनाव तथा चिट्ठी द्वारा चुनावको स्थान मिला है। मैजिस्ट्रेट लोगोंका चुनाव सर्वनागरिकोंके हाथमें है और वे सब नागरिकोंमेंसे विना किसी भेदके चुने जा सकते हैं। परन्तु सैनिक अधिकारियोंका चुनाव कुछ तो नामजद करनेसे और कुछ लोकनिर्वाचनसे बताया गया है। न्यायालयोंकी रचनामें कुछ तो लोकमत और कुछ विज्ञताका भी मान है। नगर तथा बाजारके निरीक्षकोंके चुनावमें सब लोग भाग ले सकते हैं, यद्यपि वे समस्त समाजसे स्वतंत्रतापूर्वक नहीं चुने जाते। इस प्रकार इस व्यवस्थामें उच्च वर्गोंकी बुद्धिका विशेष उपयोग है; साथ ही, लोकमतकी स्वतंत्रताका भरपूर मान भी है— प्रत्येक नागरिक चाहे तो अपने मताधिकारका उपयोग कर सकता है। इसमें एक मुख्य कठिनाई यह है कि धनी लोगोंको बुद्धिमान् भी मान लिया है। इस दोषका विचार छोड़ दें तो यह स्वीकार करना होगा कि यह व्यवस्था-वर्णन सुसंगत, परिपूर्ण और सारी छोटी मोटी बातें लिखकर सावधानीसे किया गया है। इसमें मिश्रणके तत्वका इतना उपयोग हुआ है कि हम बता नहीं सकते कि इसे कौनसा तंत्र कहा जाय? न तो यह कुलीनतंत्र है और न लोकतंत्र ही।

परन्तु अरस्तूने इस व्यवस्थापर अनेक आक्षेप किये हैं। वह कहता है कि इसकी रचना इस तत्वपर की गयी है कि लोकतंत्र तथा निरंकुशतंत्रके संमिश्रणसे अच्छी शासन-व्यवस्था उत्पन्न हो सकती है, पर वास्तवमें यह कोई अच्छी

व्यवस्था नही है। दूसरे, केवल दो प्रकारके तंत्रोंकी अपेक्षा अनेक प्रकारके तंत्रोंका संमिश्रण बेहतर होता है। तीसरे, इसमें एकतंत्रका कोई भाग नही है—इसमें वास्तवमें केवल दो तंत्रोंका, कुलीनतंत्र तथा लोकतंत्रका, संमिश्रण है और उसमें पहलेका भाग अधिक है। अरस्तूके सभी आक्षेप पूर्णतः ठीक नही कहे जा सकते। अफलातूनकी मंशा केवल यह थी कि एकतंत्र तथा लोकतंत्रके गुणोंका संमिश्रण किया जाय। एकतंत्रका गुण है बुद्धिमत्ताका शासन और लोकतंत्रका गुण है लोकनियंत्रण। अफलातूनने एकतंत्रके स्थानमे कतिपय लोगोंके शासनको स्थापित कर दिया है। इस प्रकार अरस्तूके कहनेके अनुसार, अफलातूनने अपनी व्यवस्थामें दोसे अधिक तंत्रोका संमिश्रण कर दिया है। इसमें बुद्धि-प्रधान पुरुपोके शासनका तथा लोकनियंत्रणका संमिश्रण है। ये ही दो तत्व उपयोगी हैं और इन्हींका संमिश्रण हो सकता है। इतना प्रत्युत्तर देनेपर भी हमें स्वीकार करना होगा कि अरस्तूके कहनेमें भी कुछ सार अवश्य है। साधारण अर्थकी दृष्टिसे देखा जाय तो इसमें एकतंत्रका कुछ भी भाग नही है। इसी प्रकार, साधारण अर्थकी दृष्टिसे संकुचित कुलीनतंत्रका भाग इसमें अवश्य अधिक है। अफलातूनके बताये सिद्धान्त व्यवहारमे ठीक नहीं उतरते। धन और बुद्धिका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है। बुद्धि-प्रधान पुरुषोंके शासनके स्थानमें वास्तवमें उसने धनिक लोगोंके शासनकी स्थापना कर दी है। यह हमें स्मरण रखना चाहिये कि प्रायः सभी कही धनी लोग संख्यामें थोड़े होते हैं और ग़रीब अधिक। इसलिए हम यह कह सकते हैं कि अफलातूनकी शासन-व्यवस्था थोड़ेसे लोगोकी ही शासन-व्यवस्था है। और ऊपरसे शान यह है कि धनी लोगोंको सभामें उपस्थित

होना ही चाहिये, गरीब लोग भले ही उपस्थित न रहें। निरीक्षक उच्चवर्गके लोग रहेंगे। विचार-सभाके चुनावमें धनका मान अधिक है। इस प्रकार वह लोकतंत्र बहुत कम और कुलीनतंत्र बहुत अधिक है, और कुलीनतंत्रका वास्तविक अर्थ है धनिकतंत्र, न कि बुद्धितंत्र। फिर, हमें यह न भूलना चाहिये कि लोकसभाकी सत्ता बहुत परिमित है। प्रश्न हो सकता है कि क्या जनताका संमिलित मत किसी कामका नहीं होता? क्या वह किसी बातका निर्णय नही कर सकती? फिर, यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि विचारसभाके चुनावमें लोगोंको जो अधिकार दिया गया है वह उनकी निर्णय-शक्तिके मानके कारण नहीं किन्तु लौकिक असंतोष दूर करनेके लिए है। कोई शासन-व्यवस्था प्रारंभमें चाहे किन्हीं भावोंसे प्रेरित होकर क्यों न की गयी हो, अन्तमें उसका दारमदार उसकी शासन-संस्थाओंपर ही अवलंबित रहता है। यह सिद्धान्त यदि ठीक है तो हमें कहना होगा कि अफलातूनकी इस शासनव्यवस्थाके भिन्न भिन्न भागोंके बीच कोई अंगांगी सम्बन्ध नही है। वह केवल निर्जीव लोकनियंत्रणका तथा सजीव कुलीनतंत्रका बेतुका जोड़ है। यही इसका मुख्य दोष है।

अफलातून अपने ग्रंथके बारहवें भागमे फिरसे 'रिपब्लिक' में बतायी व्यवस्थाकी ओर झुक पड़ा है। परन्तु वह इस ग्रंथका अलग भागसा जान पड़ता है। इसलिए हम उसका यहाँ विचार न करेंगे। 'रिपब्लिक' के विवेचनमें उसका यथेष्ट वर्णन आ चुका है, इसलिए भी उसके वर्णनकी आवश्यकता अब नही है।

चौथा अध्याय ।

नियमविधान-मीमांसा ।

अफलातूनके नियमविधानके सम्बन्धमें कुछ बातें हम पहले ही लिख चुके हैं । उसके इतिहासका वर्णन यहाँ अनावश्यक है । तथापि यह कहना आवश्यक है कि ग्रंथकारने स्वकालीन राज्योंके नियमविधानका यथेष्ट अभ्यास किया था । इसी ग्रन्थमें पहले पहल नियमविधानकी शास्त्रीय मीमांसाका प्रयत्न यूनानमें किया गया था । इसमें कानूनकी आत्मा भरपूर भरी है और अनेक छोटी मोटी बातें दी गयी हैं । परन्तु क़ानूनके आधुनिक अर्थकी दृष्टिसे उसमें कानूनका बुद्धिमूलक विचार नहीं है और न गहरे अध्ययनकी छाया ही उसमें देख पड़ती है । अफलातूनके क़ानूनका स्वरूप बहुतसा नीतिशास्त्रसा और बहुतसा धर्मशास्त्रसा है । आजकलके कानूनदाँ उसे कानून माननेमें हिचकेंगे । नीति और कानून अथवा कानून और धर्ममें बहुत कम भेद देख पड़ता है । उसके नियमविधानमें कई ऐसे तत्व आ गये है जो केवल नीतिशास्त्रमें या नीतिमूलक धर्मशास्त्रमें आ सकते है। परन्तु यह दोष केवल अफलातूनके ही ग्रन्थमें नही है । वह यूनानके समस्त ग्रन्थकारोंमें देख पड़ता है । सर्वसामान्य सामाजिक व्यवहार और कानूनके नियन्त्रणके व्यवहारका भेदाभेद वहाँ नही देख पड़ता । अदालतोंमें भी कानूनी कारणोंके सिवा अन्य कारण भी पेश किये जा सकते थे और कानूनके ग्रन्थोंमें कानूनके सिवा अन्य बातोंके विचारका भी समावेश है। परन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि प्राचीनकालमें सब ही देशोंमें ऐसी ही दशा थी ।

हमारे भारतकी स्मृतियाँ एक दृष्टिसे नियम-विधान ही हैं और उनमें धर्म, नीति, आदि सबका समावेश है।

हम पहले बतला चुके हैं कि अफलातूनने अपने प्रत्येक क़ायदेसे उसके कारणोंका विवेचन करने वाली भूमिका भी जोड़ दी है। पर कई स्थानोंमें कानून और भूमिका एक दूसरेमें इतनी मिल घुल गयी हैं कि उन्हें पृथक् करना कठिन काम है। हाँ, जहाँ कहीं वे पृथक् देख पड़ते हैं वहाँ भूमिकामें कानूनके पालनका नैतिक आधार बताया गया है। हमने अभी जो बात बतायी है उसे अफलातूनके अपराध, दण्ड आदिके तत्वोंका विचार करते समय ध्यानमें रखना चाहिये।

प्रत्येक सुव्यवस्थित समाजमें लोगोंके कुछ अधिकार और कर्तव्य होते हैं। जो इन अधिकारों या कर्तव्योंका उल्लंघन करता है, वह समाजका अपराधी समझा जाता है। अपराधीका अपराध बाहरी बातोंसे सम्बन्ध रखता है और कानून उसी-पर ध्यान देता है। न्यायाधीश विचार करते समय उसी बात-पर ध्यान देता है, वह अपराधीकी नैतिक अवस्थाका विचार नहीं करता। उसे यह देखना है कि अपराध हुआ या नहीं, उसके लिए काफी सबूत है या नहीं, यदि अपराध हुआ है तो कितने दर्जे तक, और इस अपराधके लिए क्या उचित दण्ड होगा ताकि वह फिरसे न हो। माना कि न्यायाधीशको इस-पर भी ध्यान देना होगा कि उक्त अपराध जान बूझकर किया गया या अनजानमें हुआ। क्योंकि सोच समझ कर किया हुआ अपराध अनजानमें किये हुए अपराधसे भिन्न होता है। इसलिए उसे इस बातका भी विचार करना होगा कि अपराध किस परिस्थितिमें किया गया और क्या उस परिस्थितिसे अपराधका स्वरूप सौम्य या भयंकर होता है। परन्तु वह

इस बातका विचार नही करता कि किस मूल प्रेरणासे प्रेरित होकर अपराधीने अपराध किया या अपराधीकी मानसिक दशा क्या है। इसका मुख्य कारण यह है कि सर्वज्ञ हुए विना कोई किसीके मनकी असली बात नहीं जान सकता। कभी कभी तो स्वयं अपराधी नही बतला सकता कि मैंने किस हेतुसे प्रेरित होकर यह अपराध किया है।

परन्तु अफलातूनको ये सिद्धान्त मान्य नही हैं। साधारणतः राज्य यह देखता है कि कौनसा अपराध हुआ और कहाँतक हुआ। यह नियम-विधान बाह्य लक्षणोंको देख कर चिकित्सा करनेके समान ही है। इससे वास्तविक रोग नही दूर होगा। राज्यको चाहिये कि वह इसके परेका, बाह्य लक्षणोंके परेका, यानी गाह्य कार्योंके परेका, विचार करे—वह उस अपराधीकी मानसिक रचनापर ध्यान दे। इस मानसिक बुराईको दूर करनेका काम मामूली दण्ड दे देनेसे न होगा। उसकी चिकित्साके लिए आध्यात्मिक उपायोका उपयोग करना होगा। क़ानूनको चाहिये कि वह ज़ालिम हाकिम न बने, वह पितृप्रेमका काम करे। दण्डकी धमकी देकर बैठ जानेसे उसका काम समाप्त नही होता—उसका काम है कि नागरिकोंको प्रतिदिन सुधारनेका काम करे। इसपर कोई कहेगा कि यह तो कानूनका नही वरन् शिक्षाका काम है। इसपर अफलातूनका उत्तर है कि कानूनके शासन और शिक्षणमे भेद ही क्या है? दण्डका वास्तविक हेतु सुधार ही है, इसलिए उसका हमारे मनपर ऐसा परिणाम होना चाहिये ताकि हमारा शील सुधर जावे। यह स्पष्ट ही है कि इसी कारण उसने प्रत्येक कानूनके साथ भूमिका जोड़नेकी प्रथाका प्रतिपादन किया है। उनके द्वारा लोग समझ सकेंगे कि हमें कानू-

नका पालन क्यों करना चाहिये। दण्डका भी यही हेतु होता है। अब पाठक समझ गये होंगे कि इस विचार-दृष्टिसे अफलातूनकी नियम-विधान-मीमांसा प्रचलित नियमविधान मीमांसासे भिन्न हो जाती है। अफलातूनके विचारमें अपराधीका अपराध करना अनिवार्य है क्योंकि उसकी मानसिक दशा रुग्ण हो गयी है—अपराध रुग्ण दशाका अवश्यंभावी वाह्य परिणाम है, वह उसे टाल नहीं सकता। इसलिए यदि अपराधको रोकना है तो मानसिक दशाका सुधार करना चाहिए। प्रचलित नियम-विधानमें अपराधीकी मानसिक दशाका विचार बहुत कम है, वह यह नहीं सोचता कि अपराधीकी मानसिक दशा रुग्ण है या भलीचंगी है। वह यही देखता है कि अपराध हुआ या नहीं, यदि हुआ है तो कहाँतक और उस अपराधको रोकनेके लिए किस दण्डकी आवश्यकता है। हेतु, परिस्थिति आदि बातें गौण हैं, कार्य प्रधान है। यदि अपराध हुआ है तो दण्ड देना ही होगा। अफलातून कहता है कि नहीं, ऐसा करनेसे रोग दूर न होगा। राज्यका काम है कि रोगको सदाके लिए दूर कर दे, वाह्य लक्षणोंके लिए दण्ड दे देने मात्रसे उसका कर्तव्य पूरा नही हो जाता।

इसी सिद्धान्तपर अफलातून एक दूसरी दृष्टिसे विचार करता है। वह कहता है कि सारे मनुष्य सुखके इच्छुक हैं, कोई भी मनुष्य जान बूझ कर दुःख नही लेना चाहता। और सुख है ही क्या? सुख है सदाचार, धर्ममूलक आचरण, न्याय। दुराचरण है दुःख, कष्ट, अन्याय, अधर्म। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य अनिच्छापूर्वक दुराचरण करता है और कष्ट, दुःख, सहता है। दुराचरणसे केवल शारीरिक कष्ट नहीं होते—वह तो वास्तवमें आत्मिक अधोगति है। वह

आत्माका समतोल बिगड़ जानेसे होती है, उसमें शुद्ध बुद्धि और सात्विक आनन्दपर तामस विकारोंकी विजय देख पडती है। यह कोई नहीं कह सकता कि कोई मनुष्य जान बूझ कर इस कष्टकारक स्थितिमें पड़ना चाहेगा। यह भी मानना अशक्य है कि यदि किसीका इस स्थितिसे उद्धार किया जावे तो वह ऐसा न करने देगा, वह उद्धारकारक दण्ड-को सहनेके लिए अनुद्यत होगा। यह स्पष्ट है कि दण्डदाता शासक उस अपराधीका सच्चा उद्धारकर्ता है। वह हानि पहुँचे हुए पुरुषके अधिकारोंका प्रतिष्ठाता ही नहीं, वह प्रच-लित व्यवस्थाका रक्षक ही नहीं, किन्तु उस अपराधीको उबा-रने वाला भी है।

तथापि अफलातूनका यह कहना नहीं है कि अपराधके लिए अपराधी उत्तरदायी नहीं माना जा सकता। यदि अप-राधकी प्रवृत्ति आनुवंशिक हो या समाजकी बुराईके ही कारण हो तो फिर अपराधीको अपने कार्यके लिए उत्तरदायी सम-झना ठीक न होगा। फिर तो न्यायालयोंकी कोई आवश्यकता न होगी। पर, जैसा हम देख चुके है, अफलातूनकी सामाजिक व्यवस्थामें न्यायालय हैं और नियमविधान भी है। इतना ही नहीं, वह स्वेच्छामूलक और अनिच्छामूलक अपराधोंका भेदा-भेद भी करता है। वह यह नहीं मानता कि अपराध-प्रवृत्ति वंशानुवंश चलती है। वह स्पष्ट कहता है कि उससे बालक बचा रह सकता है। वह मानता है कि समाजका व्यक्तिपर यथेष्ट परिणाम होता है, वह स्वीकार करता है कि बुरे राज्यके नाग-रिक बुरे ही होंगे। परन्तु वह यही कहता है कि अपराध अप-राध ही है, वह घृणात्मक कार्य है, उससे अपराधीका दर्जा समाजमें गिर जाता है और उसकी मानसिक अधोगति होती

है। अफलातूनने जो कहा है कि अपराध अनिच्छापूर्वक होते हैं, उसका यह अर्थ नहीं कि वह उसपर ढाई हुई वाह्य आपत्ति है। अपराध होनेसे तो वास्तवमें यही सिद्ध होता है कि अपराधीकी आत्माका पतन हो चुका है। और यह स्पष्ट है कि स्वतन्त्र बुद्धिका कोई भी मनुष्य अपनी ऐसी अधोगति कर लेना न चाहेगा। सारांशमें अफलातूनका कहना है कि मनुष्यका मन वास्तवमें स्वच्छ होता है, पर उसमें जब बुराई घुस जाती है तब वह बिगड़ जाता है और अपराध करने लगता है। स्वतंत्र बुद्धिसे अपराधका कार्य न होगा। मन जब परतन्त्र हो जाता है, तब ही उसमें बुराई घुस सकती है और उससे अपराधके कार्य बन पड़ते हैं। जब उसपर काम-क्रोध विजय पा जाते हैं, तब ही वह बुराइयोंका घर बन जाता है। बुरे राज्यमें कामक्रोधकी विजय सरल हो जाती है। इसलिए राज्यका कर्तव्य है कि वह इन शत्रुओंको पराजित करे और मनुष्यकी शुद्ध बुद्धिको स्वतन्त्र कर दे। यह कार्य उचित शिक्षाके द्वारा संपन्न हो सकता है। राज्यका काम है कि वह अपने नागरिकोंको उचित शिक्षा दे, उनमें अच्छी आदतें पैदा करे, अपने कानूनों, अदालतों और मुंसिफोंके द्वारा उन्हें भले रास्तेपर ले जावे और बुरी बातोंसे बचावे। राज्य अपराधियोंको दण्ड देकर उन्हें बुरे बलिष्ठ विकारोंसे बचा सकता है, उन्हें उचित भोजन और शिक्षण देकर उनकी कुप्रवृत्तिको रोक सकता है और उनकी बुद्धिको स्वतंत्रता प्रदान कर सकता है। जब ये सारे उपाय निरुपयोगी हो जावें, जब कुप्रवृत्तिका सुधार होना अशक्य हो जावे, तब अपराधीको प्राण-दण्ड देनेके सिवा और उपाय नहीं। तब तो "उसका न जीना ही भला है। और इससे राज्यको दो लाभ होंगे। उसके उदाहरण-

से डर कर लोग अपराधोंसे दूर रहनेका प्रयत्न करेंगे और राज्य ऐसे बुरे लोगोंसे मुक्त हो जावेगा।"

इससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि अफलातूनने समाजको उसकी बुराईके लिए उत्तरदायी समझा है और वह कहता है कि इस बुराईको दूर करनेका काम समाजका है। पर, जैसे कई वार पहले कह चुके हैं, वह व्यक्तिको भी अपने कार्योंके लिए उत्तरदायी समझता है। व्यक्तिके बुरे विकारोंके कारण ही अपराध होते है। यदि यह भी मान लिया कि उस समय बुद्धि परतंत्र हो जाती है तब भी किसी न किसी कारणसे वह अपने कार्योंके लिए उत्तरदायी है। परन्तु अफलातून यह नहीं बताता कि वह 'कोई न कोई कारण' कौनसा है। उसकी नियम-विधान-मीमांसामें यह बड़ा भारी दोप रह गया है। इस प्रकार वह कहता है कि अनैच्छिक अपराधका सिद्धान्त नियम-विधान-न्यायालय-न्यायाधीश-दण्ड आदिके अस्तित्वसे असंगत नही है। उसी आधारपर उसने मृत्युदण्ड भी स्थित किया है। इतना ही नही, अनिच्छापूर्वक कार्य और इच्छा-पूर्वक कार्यके भेदाभेदसे भी वह इस सिद्धान्तको सुसंगत बताता है। इसके लिए वह अपराध और हानि नामक दो भेद करता है। अपराधमे कुछ हेतु और प्रवृत्तिका अस्तित्व होता है। इसलिए उससे आत्माकी अधोगतिका निदर्शन होता है और इसलिए वह कार्य अनिच्छापूर्वक होता है। हानि बाहरी बातोंसे सम्बन्ध रखती है। वह कार्य हेतुमूलक हो या अहेतुमूलक हो; इसमें क्षतिपूर्त्तिकी आवश्यकता होती है। इसलिए हानिके कार्यसे सदैव अपराध नही होता। हाँ, कभी कभी हो सकता है। इसलिए अपराधोंके दो भेद हो सकते हैं, (१) इच्छापूर्वक और (२) अनिच्छापूर्वक। परन्तु

इस विवेचनमें अफलातूनने इतनी गड़बड़ी कर दी है कि कुछ भी स्पष्टतया बताना हमारे लिए कठिन है।

आज लोग यह मानते हैं कि किसीके मनकी भीतरी बातको जानना कठिन है। कुनीतिके लिए भले ही शिक्षणकी, सदुपदेशकी, आवश्यकता हो, पर जब किसीसे अपराध हो जाता है तब क़ायदा मनकी दशाको नहीं देखता, वह देखता है कि अपराध कहाँतक हुआ है और कितना दण्ड आवश्यक है ताकि वह अपराध फिरसे न हो। अफलातूनके छोटेसे राज्यमें सदुपदेशकी बातें करना भले ही संभव हो (पर हमें तो यह भी असंभव जान पड़ता है), परन्तु आजके विशाल राज्योंमें कानून-भंगके लिए दण्ड-विधानका ही उपाय चल सकता है। अफलातून जैसे निरे आदर्शवादी भले ही सदुपदेशकी आवश्यकतापर ज़ोर देते रहें, पर उसके पीछे पड़नेसे अशान्ति और अराजकताका साम्राज्य स्थापित हुए बिना न रहेगा। अफलातून स्वयं जब कानून बताने लगता है, तब अपने तत्वोंको भूल कर साधारण तत्वोंको ही ग्रहण करता सा जान पड़ता है। उदाहरणार्थ, जान बूझकर की हुई मनुष्य-हत्याके लिए वह सीधा सीधा मृत्यु-दण्ड ही बताता है। ऐसा होनेका कदाचित् यह कारण हुआ हो कि प्रचलित नियम-विधान-तत्वोंके दोष बताते हुए वह आदर्शकी बातें करता है, पर जब प्रत्यक्ष व्यवहारकी बात बतानी पड़ती है, तब प्रचलित तत्वोंको मानना ही पड़ता है।

इतना होनेपर भी अफलातून अपने एक तत्वको नहीं छोड़ता। वह अब भी यही मानता है कि अपराधसे प्रचलित समाज-व्यवस्थापर आघात होता है अवश्य, पर उससे अपराधीकी नैतिक अधोगति भी देख पड़ती है और समाजका

कर्तव्य है कि वह उसकी इस नैतिक अधोगतिको दूर करे। दण्डका अर्थ बदला नहीं है। हाँ, कुछ अंशतक उसका यह अर्थ हो सकता है कि वह अपराधी अथवा दूसरे लोग उस अपराधको न करने पावें। परन्तु उसका वास्तविक उद्देश नैतिक सुधार है। अफलातून कहता है कि दण्ड देकर बदला लेनेमें लाभ ही क्या है? जो हो गया वह वापस नहीं आता। दण्ड तो भविष्यके लिए दिया जाता है। उसे देखकर अपराधी तथा दूसरे लोग उस अपराधसे भविष्यमें दूर रहें और अपना आचरण सुधारें। अफलातून बार बार अपराधकी तुलना रोगसे करता है और सुधार करनेकी बातें सुझाता है। यह बात अलग है कि आज हम उसके इस नैतिक रोगके सिद्धान्त और उसकी चिकित्साके उपायोंको ज्योंके त्यों नही मान सकते। हमें तो आज पहले यह देखना पड़ता है कि किसीने अपराध करके प्रचलित व्यवस्थापर कितना आघात पहुँचाया है। फिर, हम दण्ड देकर सबको बताते हैं कि ऐसा कार्य करनेसे ऐसा दण्ड सहना पड़ता है। आनुषंगिक रीतिसे हम उस अपराधीको भी बताते हैं कि ऐसे अपराध करनेपर ऐसा दण्ड भोगना पड़ता है। इस प्रकार आनुषंगिक रीतिसे उसका सुधार हो सकता है और वह उस दण्डदानमें हमारा आनु-षंगिक हेतु अवश्य रहता है, पर प्रधान हेतु रहता है दूसरोंको उस अपराधसे दूर रखनेका। अफलातूनका कहना इसके ठीक विपरीत है। उसका कहना है कि सुधारका हेतु प्रधान होना चाहिये और दूसरोंको उस अपराधसे दूर रखनेका हेतु गौण।

यह एक बात जान कर पाठकोंको आश्चर्य होगा कि अफलातूनने धर्महीनताके लिए भी दण्डविधान, और वह भी मृत्युदण्ड, बताया है। और उससे भी आश्चर्यकी बात यह

है कि धर्माधर्मका निर्णय उसने राज्यपर छोड़ दिया है—राज्य जिसे धर्म कहे वही धर्म और जिसे अधर्म कहे वह अधर्म होगा। जो उसके अनुसार न चलेंगे वे दण्डनीय होंगे। हाँ, उसने जो धर्म बताया है वह बहुत कुछ उदार है। तीन तत्व उसमें आवश्यक हैं। पहले, परमेश्वरका अस्तित्व मानना आवश्यक है। वह कहता है कि गति मनसे ही उत्पन्न होती है। आकाशमें अनेक तारे, ग्रह और उपग्रह जो इतनी ठीक गतिसे चल रहे हैं, वह सर्वश्रेष्ठ मनका ही काम हो सकता है। अफलातूनकी भाषासे यह बतलाना कठिन है कि वह एकेश्वरवादी है या अनेकेश्वरवादी। कभी वह ईश्वरकी, तो कभी देवोंकी बात करता है। सूर्य, चंद्र, तारे, वर्ष, मास, ऋतु आदि सबके अलग अलग देव हैं और उन सबके ऊपर एक सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर है। यह विश्वास बहुत कुछ हिन्दू विश्वास जैसा जान पड़ता है। राज्यका अस्तित्व बिना धर्मके नहीं हो सकता। नास्तिकवादसे अराजकता फैल जावेगी।

धर्महीनताके लिए अफलातूनने तीन प्रकारके दण्ड बताये हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अज्ञानके कारण धर्ममें विश्वास नहीं करते, अन्यथा वे बहुत भले आदमी और नेक नागरिक होते हैं। इन्हें पाँच वर्षतक 'सुधार-गृह'में बंद करना चाहिये। यह गृह रात्रि-सभाके पास हो। इस सभाके सदस्य सदैव उनसे मिलते जुलते रहें और उन्हें उपदेशादि देकर उनका सुधार करें। पाँच वर्षके बाद वे छोड़ दिये जायँ। यदि वे सुधर जायँ तो वे शान्तिसे रह सकें। परन्तु उनमें यदि पुनः धर्महीनता देख पडे तो उन्हें मृत्युदण्ड दे दिया जाय। एक प्रकारके लोग और होते हैं जो झूठ-मूठ ही धर्ममें विश्वास नहीं करना चाहते, जो तंत्र-मंत्रके द्वारा अपना लाभ करना चाहते

हैं। उन्हें किसी ऊजड़ जंगली स्थानमें एकान्त कोठरीमें बन्द कर देना चाहिये। जब वे मर जावें तब उनके शरीर सीमाके बाहर फेंक दिये जायँ। तीसरे, कुछ लोग ऐसे होते हैं जो कुछ निजी धर्म मानते हैं। ऐसे निजी धर्म मना कर देने चाहिये। जो किसी निजी धर्ममें अंधश्रद्धासे विश्वास करते हैं, उन्हें तो दण्ड आदि देकर राजधर्म माननेके लिए बाध्य किया जाय। जो झूठ-मूठ ही किसी निजी धर्मका स्वांग रचते हैं उन्हें मृत्युदण्ड दिया जाय।

यह स्पष्ट ही है कि आज अफलातूनके इस धार्मिक बलात्कारको कोई नहीं मानता। आजकल यह मत प्रचलित है कि धर्मकी बात प्रत्येककी निजी है, वह किसीके हस्तक्षेपका प्रान्त नहीं है। कोई दण्डके भयसे धार्मिक नहीं हो सकता और किसी धर्ममें विश्वास नहीं कर सकता। इसलिए धर्मकी बातमें दण्डका उपयोग करना वृथा है।

पाँचवाँ अध्याय।

शिक्षा-पद्धति।

नियम-विधानका अन्तिम शस्त्र दण्ड है। दण्ड देकर क़ानून लोगोंको बुरी बातोंसे रोकता है। इस प्रकार दण्डसे शिक्षाका कुछ काम सिद्ध होता है। किन्तु यह विकृत मनके लिए ही चल सकता है। उसका उपयोग कभी कभी ही होता है और वह भी निषेधकी रीतिसे यानी यह बताकर कि अमुक कार्य न करना चाहिये, उसे करनेसे दण्ड मिलता है। परन्तु शिक्षणका कार्य ऐसा है जो सतत चलता रहता है, उसका उपयोग

सब लोगोंके लिए है। कलाकौशलकी शिक्षासे वह सर्वसाधारण शिक्षा भिन्न बात है। उसका उद्देश है हमें समाजके योग्य बनाना यानी अच्छे नागरिक बनाना—प्रत्येकमें सामाजिक योग्यता उत्पन्न करना। सामाजिक योग्यताका अर्थ है शासन करने और शासित होने योग्य बनना। इसका मान कायदोंमें, नियमविधानमें, स्पष्ट होता है। कानूनोंसे जान सकते हैं कि हमें किस प्रकार रहना होगा और कौन कौनसे कार्य करने होंगे। इससे यह सिद्ध होता है कि शिक्षाका उद्देश है कि लोगोंमें नियमानुसार जीवन व्यतीत करनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न हो जावे। यानी उनकी मानसिक और शारीरिक प्रवृत्तियाँ ऐसी बन जावें कि वे कायदोंका पालन सतत करते रहें। इसको सिद्ध करनेके दो उपाय हो सकते हैं। पहले तो प्रत्यक्ष उपाय यह है कि लोगोंको कानूनोंकी मानमर्यादा रखनेकी शिक्षा दी जाय और उन्हें उनके सारे नियमोंका ज्ञान करा दिया जाय। परन्तु यह उपाय बहुत अच्छा नहीं है। इससे आवश्यक प्रवृत्ति भली-भाँति न बन सकेगी। इससे बेहतर दूसरा अप्रत्यक्ष उपाय यह है कि उनमें कानूनकी, नियमविधानकी, आवश्यकता प्रविष्ट करा दी जाय और उनके मनकी ऐसी प्रवृत्ति हो जाय कि जाने-अनजाने वे सदैव समाजके नियमोंका पालन करते रहें।

यहाँतक तो बुरा नहीं, पर आगे अफलातून कहता है कि कानून अपरिवर्तनशील यानी निश्चित होता है। इसलिए शिक्षा में भी कभी परिवर्त्तन न होना चाहिए। अफलातून अपरिवर्तनशीलता, निश्चितता, के सिद्धान्त को यहाँतक बढ़ाता है कि किसी भी कलामें, लड़कोंके खेलों में, नृत्य और गायनमें, समाज और राज्यकी किसी भी बातमें किसी प्रकारका परिवर्तन होना ठीक नहीं। उन्हें इस बातका ज्ञान भी न होना चाहिये कि कभी

किसी बातमें कोई परिवर्तन हुआ। यहाँतक कि लेखनके भी नियमादि निश्चित रहें, उन्हें सबको पूरी पूरी रीतिसे पालन करना पड़े। किसी भी प्रकारकी काव्यरचना या ग्रंथरचना होनेपर पहले वह उचित आलोचकों और मैजिस्ट्रेटोंके पास भेजी जावे और वे उसकी आलोचना करें—देखें कि राज्यप्रतिष्ठितनियमोंका कहीं भंग तो नही हुआ है। नृत्य और गायनपर भी उसने इसी प्रकारका नियंत्रण बताया है। नाट्यके विषयमें कहा है कि केवल सुखान्त नाटक खेलें और उनमें केवल दास तथा विदेशी लोग भाग लें, उनसे किसी भी नागरिकका उपहास न होने पावे। दुःखान्त नाटक मैजिस्ट्रेटोंके देखे बिना न खेले जावें। यदि किसी प्रकार उनमें कानूनके विरुद्ध कोई शिक्षा हो तो वे निषिद्ध कर दिये जावें।

इसपर अधिक आलोचनाकी आवश्यकता नही है। यह सिद्धान्त न कभी मान्य हुआ, और न कभी होगा। अपरिवर्तनशीलता और उन्नतिका मेल हो नही सकता। अपरिवर्तनशीलताका अर्थ ही है अवनति। आश्चर्य यही है कि अफलातून जैसा दार्शनिक निश्चितताके सिद्धान्तको इतनी दृढ़तासे चिपक बैठा है। कदाचित् उसे यह डर रहा हो कि यदि एक बार परिवर्तन करनेकी प्रवृत्ति नागरिकोंमें पैदा हो गयी तो फिर कह नही सकते कि वह उन्हे कहाँ ले जाकर छोड़ेगी और उनसे क्या क्या करवा लेगी। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि संसार परिवर्तनशील है, उसकी कोई भी बात सदैव एक सी नही रह सकती। इसलिए अपरिवर्तनशीलताके सिद्धान्तका प्रतिपादन अज्ञताका ही नही, वरन् मूर्खताका भी परिचायक है।

यह स्पष्ट ही है कि अपरिवर्तनशीलताके लिए यह आवश्यक है कि शिक्षापर सरकारी नियंत्रण रहनेसे ही काम न

चलेगा, उसका सर्वांशमें सरकारके हाथमें ही रहना आवश्यक है। शिक्षापर ही राज्यकी सारी इमारत खड़ी रह सकेगी। इसलिए उससे अधिक महत्वकी बात कोई अन्य नहीं हो सकती। हम पहले बतला चुके हैं कि अफलातूनके इस काल्पनिक राज्यका सर्वश्रेष्ठ अधिकारी शिक्षा-मंत्री है। वह पुरुष पचास वर्षका हो, विवाहित हो, और उसके लड़के-बच्चे हों। मैजिस्ट्रेट लोग अपनेमें से उत्तम पुरुषको चुनकर उस पदपर उसे प्रतिष्ठित करें। सारे बालकोंके विषयका उत्तर-दायित्व उसपर रहेगा। जिस प्रकार पौधा प्रारंभमें चाहे जिधर झुकाया जा सकता है, उसी प्रकार बालकका मन चाहे जिधर झुकाया जा सकता है। दूसरे, उसपर उनकी शिक्षाका भार है। उत्तम शिक्षासे मनुष्य वास्तवमें मनुष्य हो सकता है, बुरी शिक्षासे पूरा पूरा पशु बन सकता है। शिक्षा-मंत्रीपर क्या ही भारी जिम्मेदारी है!

शिक्षामंत्रीका काम है कि वह शालाओंकी देखरेख, उपस्थितिका प्रबंध तथा इमारतोंकी देखभाल करे। उसके हाथके नीचे परीक्षक और निरीक्षक रहेंगे। ये परीक्षाएँ लेंगे और कसरत-कवायद तथा सङ्गीतके लिए पारितोषिक देंगे। ये परीक्षक और निरीक्षक भी चुने हुए रहेंगे और अपने विषयोंके ज्ञाता रहेंगे। परन्तु शिक्षकोंके विषयमें अफलातूनने बड़ी ही विचित्र बात बतायी है। जो विदेशी लोग उस राज्यमें रहेंगे वे ही यह काम करेंगे और उन्हें वेतन मिलेगा। नागरिक कभी वेतनभोगी नहीं हो सकता, क्योंकि वेतन लेना नागरिकके लिए अपमानकारक बात है। फिर, छोटे छोटे बच्चोंको पढ़ाना नागरिककी शानके खिलाफ है। बात यह है कि अफलातूनके कई विचार काल और देशकी मर्यादासे बंधे थे, वह

उनसे परेकी बात न सोच सका। यूनानमें उस समय जो बातें प्रचलित थीं, उन्हींको अफलातूनने अपने ग्रंथमें दुहरा दिया है। शिक्षकके कार्यका उस समय कोई महत्व न था। आज शिक्षकका महत्व, कमसे कम सिद्धान्तमें, सर्वोपरि माना जाता है। हमारे प्राचीन भारतमें गुरुको जो मान मिलता था, वह सबपर प्रगट ही है। इस बातमें भारत बहुत कालतक सबसे बढ़ा चढ़ा था और कदाचित् आज भी है।

हाँ, एक दो बातोंमें अफलातून यूनानियोंसे आगे बढ़ गया था। यूनानी लोग उस समय अपने लड़कोंको भिन्न भिन्न विषयोंके अध्ययनके लिए भिन्न भिन्न शिक्षकोंके पास भेजा करते थे। अफलातून कहता है कि ऐसा करना ठीक नहीं, बालककी सब शिक्षा एक ही स्थानमें होनी चाहिये। एक बात और ध्यान देने लायक है। यूनानी लोग उस समय अपने लड़कोंको पढ़ाते या न भी पढ़ाते थे। पर अफलातून कहता है कि सब-को शिक्षा मिलना आवश्यक है। तीसरे, यूनानी लोग लड़कि-योंको बिलकुल न पढ़ाते थे। उन्हें जो कुछ शिक्षा मिलती थी वह केवल गृहस्थीकी और वह भी घरपर। अफलातून कहता है कि बालकोंके समान लड़कियोंको भी शिक्षा मिलनी चाहिये। इसका यह मतलब नहीं कि लड़के और लड़कियाँ एक ही पाठशालामें सदैव साथ साथ पढ़ें। पर वह यह स्पष्ट कहता है कि लड़कोंके समान लड़कियोंको भी कवायद-कसरत तथा सङ्गीत सिखाना चाहिये।

झूलेमें रहनेकी अवस्थासे प्राथमिक शिक्षाका प्रारंभ होता है। तीन वर्षकी अवस्था होनेतक बच्चोंको हाथोंमें उठा कर परिचारिकाएँ घुमाया फिराया करें। यदि इससे पहले उन्हें स्वयं चलने फिरने दिया तो वे सीधे न बढ़ेंगे। घुमाते फिराते

समय उन्हें ऊपर नीचे खूब आन्दोलित करना चाहिये। ऐसा किये बिना उनके भोजनका पाचन न होगा। इससे यह भी एक लाभ होगा कि सुखकारक गतिसे वे शान्त स्वभावके बनेंगे, चाहे जब मचलनेकी उनकी आदत न होगी और उन्हें डर न लगा करेगा। वृद्धिशील बालक बहुत चिल्लाया और नाचा-कूदा करते हैं। इसी प्रवृत्तिके आधारपर उन्हें धीरे धीरे गायन और नृत्य सिखाने चाहिये। पहले तीन वर्ष बालकोंको न तो बहुत अधिक सुखी और न बहुत अधिक कट्टर बनानेका प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिए मध्यम मार्ग ठीक होगा। न तो उन्हें सदैव खुश करनेका प्रयत्न करना चाहिये और न सदैव अनावश्यक कष्ट देना ही उचित है। तीन वर्षके बाद उनमें सङ्कल्प-शक्ति देख पड़ती है, इसलिए अब ताड़नाका प्रारंभ हो सकता है। बालकोंके लिए खेल बहुत आवश्यक है, परन्तु वे लोग जहाँ कहीं जमे वहीं अपने खेल स्वयं ढूँढ निकालते हैं। जान पड़ता है कि खेलोंके नियंत्रणका नियम बड़े बालकोंके लिए है। तीन वर्षकी अवस्थाके बाद परिचारिकाएँ बालकोंको गाँवके मंदिरोंमें लेजाया करें। खेलते समय उन्हें मनमानी गड़बड़ न करने देनी चाहिये। सरकारी निरीक्षिकाएँ इन परिचारिकाओंपर देखरेख रखें और किसी प्रकार शिष्टाचारका भंग न होने दें। छः वर्षकी अवस्थामें बालक और बालिकाएँ साथ साथ न रहें—फिर बालक बालक एकत्र रहें और बालिकाएँ बालिकाएँ एकत्र। अब अभ्यासका प्रारंभ हो सकता है, परन्तु वह केवल कवायत-कसरतके रूपमें ही। बालक-बालिकाओंको घोड़ेपर सवारी करना, धनुष तथा गुलेल चलाना सिखाना चाहिये। अफलातून कहता है कि इन कलाओंका सैनिक उपयोग बहुत है। खेल केवल खेलके लिए न खेलने चाहिये—उनका हेतु

यह रहे कि उनसे बालक अच्छे सैनिक और नागरिक बनें। इसीलिए बालिकाओंको भी उन कलाओंकी शिक्षा देना आवश्यक है। क्योंकि अफलातूनके राज्यमें बालकोंके समान बालिकाओंको भी सैनिकोंका काम करना होगा।

इस प्रकारकी शारीरिक शिक्षा दस वर्षकी अवस्थातक चलेगी। अफलातून स्पष्ट नहीं कहता, तथापि यह अनुमान कर सकते हैं कि इसीके साथ साथ नृत्य और गायनकी शिक्षाका भी प्रबंध रहेगा। जिसे हम माध्यमिक शिक्षा कह सकते है वह दस वर्षकी अवस्थामें प्रारंभ होगी। अब काबूमें जल्द न आनेवाले इस बालक रूपी प्राणीके लिए लगाम और जीनकी ज़रूरत होगी। अब उसे पाठशालामें पहुँचानेवाला और उसके आचरणपर देखरेख रखनेवाला निरीक्षक चाहिये, शिक्षक चाहिये और अध्ययन चाहिये। अब किसी भी नागरिकको उसे सुधारनेका अधिकार होना चाहिये। दिन निकलते निकलते बालकको पाठशालामें पहुँच जाना चाहिये। मानवजीवन थोड़े काल ही चलता है और शिक्षा तो अनन्त है। इसलिए समयका खूब उपयोग करना चाहिये। बालकको साहित्य पढ़ते आना चाहिये। इसके लिए पढ़ना-लिखना सीखना आवश्यक है। वीणाका ज्ञान होना आवश्यक है। युद्ध, गृह-प्रबंध तथा नागरिक ज़ीवनके लिए जितना अंकगणित और रेखागणित आवश्यक है, उतना गणित उसे जानना चाहिये। कुछ ज्योतिः शास्त्र भी जानना आवश्यक है। दससे तेरह वर्षतक साहित्यका अभ्यास चलना चाहिये और तेरहसे सत्रह वर्षतक संगीतका अभ्यास होना चाहिये। अफलातूनने यह स्पष्टतया कहा नहीं है कि गणितके अध्ययनका आरंभ कब हो, परन्तु उसने इतना अवश्य कहा है कि १६ वर्षकी अवस्थामें वह

समाप्त हो जावे। वैज्ञानिकों और सोफिस्टोंके लिखे हुए ग्रंथोंके अध्ययनपर अफलातूनने आक्षेप किया है। इसके बदले उसने अपने ग्रंथमें दिये हुए नियम-विधानके अनेक विवेचनोंको पढ़ानेकी बात सुझायी है। इससे बालक क़ानून जान जावेंगे और क़ानूनका मान करनेकी प्रवृत्ति उनमें पैदा हो जावेगी।

संगीतके नैतिक परिणामोंपर अफलातूनने बड़ा ज़ोर दिया है। इसलिए उसने कहा है कि सब गाने ऐसे हों कि उनसे अच्छे नैतिक परिणाम उत्पन्न होवें। इसमें संगीतसे होनेवाले आनन्दका ही विचार न रखा जावे। हम पहले ही बता चुके हैं कि संगीत-विद्याकी शिक्षापर अफलातूनने नियंत्रण रखा है।

हम अभी ऊपर बता चुके है कि अफलातूनके मतसे गणितका कितना अभ्यास किया जाय। परन्तु, कुछ लोग, कदाचित् रात्रिसभाके तरुण सदस्य, उसका विशेष अभ्यास करें। परन्तु जल्द ही वह मिश्रदेशकी ओर इशारा करते हुए कहता है कि मिश्र-निवासियोंके सामने हम यूनानी लोग बिलकुल ढोर है, हम कुछ भी गणित नही जानते, अतः हम मनुष्य कहलानेके योग्य नही हैं। हम अफलातूनका एक यह मत बता चुके है कि ग्रहों, उपग्रहों और तारोंकी गति देखकर हमें यह सूझना ही चाहिये कि इनका चलानेवाला कोई विश्वश्रेष्ठ मन है। इसीसे परमेश्वरका अस्तित्व सिद्ध होता है। इसलिए यदि किसीको सच्चा धार्मिक होना हो तो वह ज्योतिःशास्त्रका अध्ययन अवश्य करे। वह अध्ययन इतना होना चाहिये ताकि परमेश्वरके अस्तित्वका विचार मनमें भलीभाँति पैठ जावे।

साहित्य, संगीत और गणितके अध्ययनकालमें शारीरिक शिक्षा भी भरपूर चलती रहेगी। बालक और बालिकओंको धनुर्विद्या और गुलेल फेंकनेकी कला, पादसेनाकी भिन्न भिन्न

प्रकारकी युद्धकला, भिन्न भिन्न प्रकारके सैनिक ऐंचपेंच, सेना-यानके प्रकार, छावनी डालनेकी रीतियाँ आदि सिखायी जावें। यह सब शरीर-शिक्षाके अन्तर्गत समझना चाहिये। इससे स्पष्ट है कि अफलातूनकी शिक्षा-पद्धतिमें सैनिक शिक्षा एक आवश्यक भाग है। जो गणितका अधिक अभ्यास करना चाहें उनकी बात भिन्न है। अन्यथा, सोलह वर्षकी अवस्थामें शिक्षा समाप्त हो जाती है, आगेकी शिक्षाके विषयमें अफलातूनने कुछ नहीं कहा है। तथापि पचीस वर्षकी अवस्थातक तरुण मनुष्योंको विवाह न करना चाहिये। इसी अवस्थामें वे निरीक्षकोंके साथ शासक और सैनिकके कार्य सीखनेका श्रीगणेश करनेके लिए घूमें। परन्तु सोलहसे पचीस वर्षतक वे क्या करें यह अफलातूनने नहीं बताया। जब वे निरीक्षकों-के साथ पचीस वर्षकी अवस्था होनेपर घूमेंगे तब उन्हें देशके भिन्न भिन्न नगरोंमें रहनेको मिलेगा। वे सब एकत्र भोजन करेंगे। उन्हें छुट्टी कठिनाईसे मिल सकेगी और बिना छुट्टीके अनुपस्थित रहना बड़ा भारी अपराध समझा जावेगा। ऊपर कह ही चुके हैं कि इनका काम कुछ सैनिक स्वरूपका और कुछ साधारण शासन-स्वरूपका होगा। वे खाइयाँ खोद कर और दुर्ग बनाकर सीमाप्रान्तकी रक्षा करेंगे, सेना-संचालनके लिए सड़कोंको दुरुस्त करते रहेंगे, पानीका प्रवाह ठीक करेंगे, और सिंचाईका भी प्रबंध करना उनका काम होगा। इस तरह उन्हें अनेक प्रकारका आवश्यक ज्ञान प्राप्त होगा।

यही अफलातूनके 'लॉज़' नामक ग्रंथके काल्पनिक राज्यकी शिक्षा-पद्धतिका सार है। उसका मुख्य उद्देश यह है कि प्रत्येक युवक अपने राज्यका सर्वदृष्टिसे सुयोग्य नागरिक बने।

पाँचवाँ भाग ।

उपसंहार ।

उपसंहार ।

सामाजिक व्यवस्थाके जो अनेक भिन्न भिन्न प्रश्न उपस्थित होते हैं उनका मोटी तरहसे इन छः वर्गोंमें वर्गीकरण किया जा सकता है—(१) मनुष्योंका श्रमविभाजन-मूलक वर्गीकरण और उन वर्गोंके परस्पर सम्बन्ध, (२) स्त्री और पुरुषका परस्पर सम्बन्ध तथा समाजमें स्त्री और पुरुषका स्थान, (३) आर्थिक व्यवस्था, (४) शासन-व्यवस्था, (५) शिक्षा, और (६) व्यक्तिके उद्देश पूर्ण होनेके लिए कोई विशेष व्यवस्था। अफलातूनने इन समस्त प्रश्नोंपर विचार करनेका प्रयत्न किया है। पहले बतला ही चुके हैं कि 'रिपब्लिक' नामक ग्रन्थ वास्तवमें जीवनकी मीमांसा ही है। यही बात बहुतांशमे "लॉज" नामक ग्रंथके विषयमें भी कही जा सकती है। हाँ, 'पोलिटिकस' नामक ग्रंथ अधिकांशमें अपूर्ण है और उसमें शासन-व्यवस्थाके केवल एक प्रश्नका विवेचन किया है। हमारे इस ग्रंथके विवेचनसे स्पष्ट होगया होगा कि अफलातूनके सारे सिद्धान्त न कभी व्यवहारमें आये और न आ सकेंगे। तथापि यह सत्य है कि उस प्राचीन कालमें अफलातूनने ही इस संसारमें सामाजिक व्यवस्थाकी शास्त्रीय मीमांसा सब दृष्टिसे पहले पहल की। हमारे यहाँ भी स्मृतियोंमें सामाजिक व्यवस्थाका वर्णन है, जीवनकी कुछ बातोंपर इससे पहले भी महाभारत, रामायण, उपनिषद, बौद्ध और जैन ग्रंथोंमें यथेष्ट विचार किया गया है। पर अफलातूनकी शास्त्रीय मीमांसामें और हमारे यहाँकी स्मृतियोंके वर्णनमें अथवा जीवनकी उपर्युक्त ग्रंथोंकी कुछ बातोंके विवेच-

नमें बहुत अन्तर है। अफलातूनने पहले इस बातका निश्चय किया कि समाजव्यवस्थाकी आवश्यकता किस लिए है। व्यक्तिके जीवनका उद्देश व्यक्तिगत नैतिक विकास ही हो सकता है और इस उद्देशकी पूर्तिके लिए समाजकी आवश्यकता है। इतना निश्चय कर उसने प्रश्न छेड़ा है कि इसके लिए किस प्रकारके समाजकी आवश्यकता है। इसी प्रश्नका उत्तर उसने 'रिपब्लिक' और 'लॉज' में शास्त्रीय रीतिसे देनेका प्रयत्न किया है। स्मृतियोंमें प्रचलित सामाजिक व्यवस्थाका ही मुख्यतया वर्णन है। इसलिए वह शास्त्रीय नही कहा जा सकता। महाभारत रामायण, उपनिषद्, बौद्ध और जैन ग्रंथोंमें प्रसंगवश अथवा मूल रूपसे जीवनके कुछ प्रश्नोंपर शास्त्रीय ढंगसे प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया गया है। पर वह जीवनके सब प्रश्नोंसे सम्बन्ध नहीं रखता, इसलिए वह एकदेशीय कहा जा सकता है। अफलातूनके विवेचनसे यदि कोई तुलनामें ठहर सकता है तो वह है हमारी श्रीमद्भगवद्गीता। केवल इसी छोटेसे ग्रंथमें जीवनके कुछ प्रश्नोंपर शास्त्रीय प्रकाश डाला गया सा जान पड़ता है। पर वहाँभी अनेक प्रश्न अपूर्ण रह गये है। व्यक्तिका क्या उद्देश होना चाहिये, वह किस रीतिसे पूर्ण हो सकता है और उसके लिए वर्ण-व्यवस्थाकी आवश्यकता कैसे होती है, इसी बातका विशेष विवेचन है। हमने ऊपर जो छः प्रकारके प्रश्न दिये हैं, उनमें से दोसे पाँच तकके प्रश्नोंपर उसमें बहुत कम प्रकाश डाला गया है। गीता महाभारतका एक भाग है और वह भी प्रचलित व्यवस्थासे सम्बन्ध रखती है। इस लिए उसमें इन प्रश्नोंपर प्रकाश डालनेकी आवश्यकता नहीं रही। जिसे अफलातूनने स्वधर्मानुसरण कहा है उसीपर उसमें विचार किया गया है। 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः

'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर' ही इस ग्रंथका सार है। यानी 'रिपब्लिक'के एक प्रश्नपर ही उसने प्रकाश डाला है। परन्तु आज आवश्यकता है जीवनके सब अंगोंपर प्रकाश डालने की, सर्वांगीन सामाजिक व्यवस्थाकी। इसीलिए प्रारंभिक विचारकी दृष्टिसे हमने अफलातूनकी सामाजिक मीमांसाको संक्षेपमें तुलनात्मक दृष्टिसे लोगोंके सामने रखा है। आशा है लोगोंको यह विवेचन जीवनके अनेक प्रश्नोंपर विचार करनेमें कुछ सहायता देगा।

अफलातूनके ग्रंथोंसे इस बातकी आशा करनेका कारण यह है कि इस ग्रंथकारके ग्रंथोंसे ही अरस्तू जैसे विद्वान्‌ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'पोलिटिक्स' के बहुतेरे विचार लिये हैं। इन तुल्य स्थानोंके उल्लेखसे हमारे पाठकोंको विशेष लाभ न होगा, क्योंकि यह समझनेके लिए अरस्तूके उक्त ग्रंथका ज्ञान आवश्यक है। सारांशमें हम यह कह सकते है कि 'लॉज' के बिना अरस्तूका 'पोलिटिक्स' न लिखा गया होता। तदनंतर, अफलातूनके ग्रथोंने सेण्ट आगस्टिन, बीथियस जैसे अनेक ग्रंथकारोंको अपने अपने ग्रथ लिखनेके लिए उत्साहित किया। फिर क़रीब एक हजार वर्षतक अफलातूनके ग्रंथ सुषुप्ताव-स्थामें रहे, पर यूरोपके मध्यकालकी मठ-व्यवस्था पर उसका प्रभाव पड़े बिना न रहा। अर्वाचीन कालके प्रारंभमें तो उसके विचारका प्रभाव बहुत ही बढ़ गया। सर टामस मूर, रूसो, हेगेल, आगस्ट कोम्ट, और नितान्त अर्वाचीन कालके ग्रीन, ब्रैडले और बोसेङ्केट जैसे विद्वानोंके कई विचारोंको इसी यूनानी दार्शनिकके विचारोंने जन्म दिया है। ये ग्रंथ ऐसे हैं कि उनका उपयोग मानव-समाजके लिए कम अधिक सदैव बना रहेगा।

जैसा अभी कुछ काल पहले बतला चुके हैं, अफलातून पहले इस बातका विचार करता है कि मानव-जीवनका उद्देश क्या है। इसका उत्तर वह स्पष्ट देता है कि मानव-जीवनका उद्देश चरम नैतिक विकास ही हो सकता है। फिर उसने यह बताया है कि समाजके बिना इस नैतिक विकासकी सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए वह प्रश्न उठाता है कि जिस सामाजिक व्यवस्थासे यह सिद्ध हो, उसकी रचना कैसी होनी चाहिये। जहाॅ समाज स्थापित हुआ वहाँ अनेक कार्यों-का संपादन तथा वस्तुओंका उत्पादन करना होगा। वहाँ, शासनकी भी व्यवस्था करनी होगी। जीवनमें संपत्तिकी अत्यन्त आवश्यकता है। जीवन सभ्य होनेके लिए अनेक प्रकारकी वस्तुएॅ चाहिये। इसी प्रकार उचित शासनके लिए भी अनेक प्रकारकी वस्तुओंकी आवश्यकता होती है। इसी प्रकार, समाज-धारणके लिए भिन्न भिन्न प्रकारके नियमोंकी भी आवश्यकता होती है। लोग अपने अपने कार्य उचित रीति से करे, भिन्न भिन्न नियमोंका पालन करें तथा व्यक्तिगत जीवन तथा समाज-शासनके लिए सर्व आवश्यक वस्तुओंका उत्पादन करें, इसके लिए उचित शिक्षाकी आवश्यकता होती है। समाज-धारणाके लिए पुरुष और स्त्रीका संयोग होना आवश्यक है, क्योंकि संततिके बिना समाजकी धारणा नही हो सकती हैं इसलिए प्रश्न उठता है कि पुरुष और स्त्रियोंका सम्बन्ध किन नियमो और तत्वोंके अनुसार हो, क्योंकि नियम-हीन व्यवस्थासे समाज चल नही सकता। इसीसे सम्बद्ध यह प्रश्न है कि पुरुष और स्त्रियोका समाजमें क्या स्थान है।

भिन्न भिन्न कार्योंके सपादनके लिए अफलातूनने 'रिपब्लिक' में यह बताया है कि लोगोंका गुणके अनुसार वर्ग-विभाग होना

चाहिये । कुछ लोग शासक रहें और वे ही लोगोंकी शिक्षा-दीक्षाका प्रबंध करें, कुछ लोग समाज-रक्षाका भार उठावें, पर ये पहले वर्गके शासनमें रहें । एक तीसरा वर्ग उत्पादन करे । और यह बता ही आये हैं कि इन्हें जो कुछ सेवा-टहल आदिकी आवश्यकता हो वह दासोंसे ली जाय । जैसा पहले कह चुके है, यह अपने यहाँके ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र नामक वर्ण-व्यवस्था जैसी ही व्यवस्था है । अन्तर इतना ही है कि अपने यहाँके ब्राह्मण केवल शिक्षा, धर्म, समाज-व्यवस्था तथा मंत्रणा-का काम करते थे, प्रत्यक्ष शासनका काम क्षत्रिय करते थे । तथापि यदि यह स्मरण रखा जाय कि सारे समाजकी व्यवस्थाका कार्य हमारे ब्राह्मणोंके हाथमें था और इसके सिवा शासनका कोई भी कार्य उनकी सलाहके विरुद्ध न होता था, अन्य वर्ग उनका भरपूर सम्मान करते थे, तब यह उपर्युक्त अन्तर बहुत कम हो जाता है । यह भी हम दिखला चुके हैं कि अपने यहाँकी वर्ण-व्यवस्थाका आधार मानसिक गुणविशेष है । अफलातूनके बुद्धि-तेज-वासना नामक भेद सत्व-रज-तम नामक भेद जैसे ही हैं । गीतामें स्पष्ट कहा गया है कि 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' । इससे एक बात स्पष्ट है कि किसी भी काल और समाजमें 'श्रमविभाग' की अत्यंत आवश्यकता है और यथाशक्य यह श्रमविभाग व्यक्ति और समाज दोनोंके आत्यंतिक लाभकी दृष्टिसे 'गुणविभागशः' ही होना चाहिये । परन्तु आज प्रश्न यह है कि यह श्रमविभाग किस प्रकार किया जाय ? क्या भारतवर्षमें जैसा बहुत काल-तक चलता रहा वैसा आनुवंशिक विभाग किया जाय ? अथवा अफलातूनके बताये परीक्षामूलक वर्ग-विभाग किये जायँ ? भारतीय वर्ग-विभाग यानी वर्ण-व्यवस्थापर एक बड़ा भारी

आक्षेप है। क्या कोई कह सकता है कि ब्राह्मण गुणोंसे युक्त पुरुष और स्त्रीके लड़के बच्चे ब्राह्मणगुणोंसे युक्त अवश्य होंगे? इसके विपरीत, उसके एक दो बड़े भारी गुण ये हैं कि समाजमें उससे स्थिरता रही, परीक्षाओंसे वर्ग बनानेसे जो अस्थिरता पैदा हो सकती है वह उससे न हुई और अपने पैतृक धंधेको बालक सरलता तथा कुशलतासे सीख सके यानी उसने लाखों पाठशालाओंका काम सैकड़ों वर्षोंतक सिद्ध किया। अफलातूनकी वर्गीकरण-रीतिमें परीक्षाका बड़ा भारी झगड़ा है। इस संसारमें उसका सफलतापूर्वक चलना असंभव सा जान पड़ता है। तथापि दोनो व्यवस्थाओमें जो दो मुख्य तत्त्व हैं कि समाज-व्यवस्थाके लिए श्रमविभागकी आवश्यकता है और वह श्रम-'विभाग गुणकर्मविभागशः' होना चाहिये, वे सर्वकालीन सत्य हैं। प्रत्येक काममें हस्तक्षेप करनेसे व्यक्ति और समाज दोनोंको हानि होती है। परन्तु आज केवल होड़बाजीका श्रमविभाग है, इस कारण समाजमें बहुत अस्थिरता और असंतोषका साम्राज्य छाया हुआ है। एक बार कोई 'कर्म' अपना कह लेने-पर 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' का तत्त्व ही व्यक्ति और समाज दोनोंके लिए लाभदायक है। किसी प्रकारके वर्गभेदके अभावमें आज यह भी प्रश्न उत्पन्न हुआ है कि क्या समस्त समाजको सैनिक शिक्षा देनी चाहिये अथवा समाजमें कुछ विशिष्ट वर्ग सैनिक कार्य करनेवाले रहें। मुँहसे कुछ भी कहें, पर आज तो लोग प्रत्यक्ष कृतिमें अनिवार्य सैनिक शिक्षा-की ओर झुके जा रहे है। शरीर-विकास अथवा मानसिक आत्मसंयमकी दृष्टिसे सैनिक शिक्षाका प्रचार करना एक बात है और सैनिककर्म करनेकी दृष्टिसे सैनिक शिक्षा देना दूसरी बात है। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि अफलातूनने अपने

प्रथम दो वर्गोंके लिए सैनिक शिक्षा अनिवार्य बतायी है। 'लॉज' में यद्यपि पहले पहल रिपब्लिकका लोक-वर्गीकरण त्याग दिया गया है तथापि आगे चल कर उसका एक भिन्न ढंगसे स्वीकार कर लिया गया है और यह भी 'रिपब्लिक' के वर्गीकरण जैसा ही है। यहाँ भी नागरिकोंको ब्राह्मण और क्षत्रियके ही कर्म बताये हैं, वैश्यके कर्म पहले तो उसने बहुत घटा दिये हैं और फिर उन्हें उसने दासों और विदेशियोंमें बाँट दिया है यानी शूद्रों और वैश्योंके हाथमें वे कर्म छोड दिये गये हैं।

आज भी यह बड़ा भारी प्रश्न है कि प्रत्येकको जो आवश्यक भौतिक वस्तुएँ चाहिये वे सबको तो मिलें, पर समाजका उच्च काम करनेवाले तथा मानसिक उन्नतिके पीछे लगे हुए लोग अर्थोत्पादनकी बुराइयोंसे किस प्रकार बचे रहें। अफलातूनने जो कहा है कि नैतिक विकासका तथा धनेच्छाका मेल कदापि नहीं हो सकता, वह त्रिकाल सत्य है। इस जगत्में बहुत कम धनी हुए होंगे, कमसे कम अब तो उनका होना अशक्य ही है, जिन्होंने नीतिमूलक मार्गसे ही धन कमा कर उसका संचय किया हो। धन अवश्यमेव मनुष्यकी अधोगतिका मूल है। इसी कारण तो हम भारतीय आज नीचोंसे भी नीच हो गये हैं। अल्प-संतोषी होना नैतिक उन्नतिके लिए, कुछ अंशतक, आवश्यक है। पर यह नियंत्रण किस प्रकार अमलमें आ सकता है? इस प्रश्नका उत्तर आजके समाजने नहीं दिया है। अफलातूनने मताधिकारका कम अधिक होना 'लॉज' नामक ग्रन्थमें धनके कम अधिक होनेपर रखा है। पर यह तत्व आज सर्वमान्य हो नहीं सकता। सब मनुष्य बराबर हैं, इसलिए सबको कायदेमें समान समझना चाहिये। तथापि एक बात आज भी है। वह यह है कि धनके

कम अधिक होनेके अनुसार छोटी बड़ी शासन-संस्थाओंके सदस्य होनेका अधिकार प्राप्त होता है। कदाचित् कुछ अंश-तक यह अनिवार्य है। तथापि आज कल कोई भी पुरुष कोई भी बाकायदा धंधा कर सकता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य चाहे जितना धन बाकायदा धंधा करके कमानेके लिए स्वतंत्र है। आर्थिक व्यवस्थाके प्रश्न ही आज सर्वोपरि प्रश्न है। उनके कोई उचित उत्तर आज नही मिले है।

यह तो सब कोई मानेंगे कि प्रत्येक समाज-व्यवस्थामें लोग समाजकी सेवा अवश्य करे और कार्योंका भार योग्यताके अनुसार ही उठाया जाय। समाजका शासन अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है। पहले प्रश्न यह हैकि क्या प्रत्येक पुरुष इस शासनमें भाग लेनेके लिए स्वतंत्र रहे अथवा कुछ विशिष्ट लोग ही यह काम करे? फिर दूसरा प्रश्न यह है कि यह कार्य करनेके लिए लोग किस प्रकार चुने जायँ? तीसरा प्रश्न यह है कि शासन-व्यवस्था किस प्रकारकी हो? आज तो लोगोंकी यही धारणा है कि प्रत्येक प्रौढ़ मनुष्य शासनके कुछ कामोंमे भाग लेनेके लिए स्वतंत्र रहे और कुछ लोग वेतनभोगी होकर शासनका काम करे, शासन-व्यवस्थाका रूप लोकतंत्रात्मक हो और शासनकार्यके लिए जो लोक-प्रतिनिधि-संस्थाएँ हैं उनमें लोग कुछ वयोमर्यादाके अनुसार भाग ले सकें। अफलातूनने भी अपने ग्रन्थोंमें आनुवंशिक शासकोंके बदले निर्वाचित शासकोंकी प्रथाका समर्थन किया है। उसकी निर्वाचन-पद्धतियाँ एक ढङ्गसे सर्वोत्कृष्ट है, पर 'रिपब्लिक'में बतायी पद्धति अव्यवहार्य है और 'लॉज'की भी पद्धति अनावश्यक रूपसे कठिन है। कदाचित् छोटेसे नगर-राज्यमे वह शक्य हो सके, पर आज तो वह अमलमें नही आ सकती। 'रिपब्लिक' और

'पोलिटिकस'में बताया हुआ निरङ्कुश सत्ताका तत्त्व सिद्धान्त-दृष्टिसे उत्तम होनेपर भी व्यवहारमें त्याज्य है । और यह बात अफलातूनने भी मान ली है । इसीलिये कानूनकी सर्वश्रेष्ठ सत्ताका तत्त्व उसने प्रतिपादित किया है । पर इसका अर्थ यह न होना चाहिये (जैसा कि अफलातूनने किया है) कि नियम किसी भी रीतिसे कभी भी न बदले जायँ । कानूनकी सर्वश्रेष्ठताका यही अर्थ होना चाहिये कि कानूनमें सब बराबर हैं और प्रत्येक पुरुष उसके अनुसार दण्डनीय हो सकता है, उसके परे कोई नही हो सकता । अफलातूनने पंचायत प्रथाका, शासन-व्यवस्थामें भाग लेनेके लिए योग्यता पानेके वास्ते एक प्रकारकी उम्मेद्वारीकी रीतिका, और भिन्न भिन्न शासन-कार्योंके लिए भरपूर वयोमर्यादाका जो प्रतिपादन किया है, वह बहुत ही ठीक जान पड़ता है । आजकल भी हमारी संमतिमें उच्च शासन-संस्थाओंमें भाग लेनेकी आज्ञा छोटी संस्थाओंमें आवश्यक भाग लेनेपर ही मिलनी चाहिये, बड़े बड़े भागोंकी शासन-संस्थाओंमें भाग लेनेकी अनुमति भरपूर वय हो जानेपर ही मिलनी चाहिये । आजकलकी रीति ठीक नहीं कही जा सकती ।

व्यक्तिको धनकी जिन बुराइयोंका डर है, उन्हींका डर समाजको भी है । इसलिए अफलातूनने कहा है कि राष्ट्रके लोग बाहरसे व्यापार-सम्बन्ध न स्थापित करें । उसने बहुत आवश्यक पदार्थोंके विषयमे ही अपवाद किया है । व्यापार की दृष्टिसे समाज बहुतांशमें व्यक्तियोंका केवल समूह ही है । क्योंकि व्यापार बहुधा व्यक्ति ही करते हैं और उनकी सुविधाके लिए राज्यको अनेक काम करने पड़ते हैं । इस प्रकार व्यक्ति ही नहीं तो समस्त समाज छल-कपटका आचरण करने

लगता है। इसलिए अफलातूनने कहा है कि उसका आदर्श राज्य समुद्रसे दूर रहे और वहाँ अधिक लकड़ी न पैदा हो ताकि नाव बना कर व्यापार करनेका लोभ ही लोगोंको न उत्पन्न होवे। यह स्पष्ट है कि यह बात आज कोई नही मान सकता। आज तो इच्छा हो या न हो, अन्य देशोंसे व्यापार करना ही होगा। केवल कुछ अंश तक उसपर राज्यका नियंत्रण प्रस्थापित हो सकता है, पूर्णतया नही। अफलातूनके नगर-राज्यका सिद्धान्त केवल उसी कालका सिद्धान्त है। आज तो विशाल राज्य ही रहेंगे और उनकी मनुष्य-संख्या सदेव बढ़ती रहेगी। मनुष्य-संख्याको स्थिर रखना आजकल असम्भव है। भ्रूणहत्या और बालहत्या दोनो ही भारतमें सदैव नीति और धर्मके विरुद्ध मानी जाती थी और अब भी सारे जगत्मे मानी जाती हैं।

इसका कारण यह है कि स्त्री-पुरुषोंके मैथुन-सम्बन्धपर राज्य अपना नियंत्रण नही प्रस्थापित कर सकता। वह केवल यह कर सकता है कि लोग यथाशक्य आत्मसंयमसे काम लें। इसलिए सारे देशोमें विवाह-संस्था चली जाती है। ममत्वसे अपने नागरिकोंको बचानेके लिए अफलातूनने 'रिपब्लिक' मे निजी पत्नी और इसलिए निजी सपत्तिकी रीति उड़ाकर राज्यको बहुतांशमें एक कुटुम्ब बना डाला था। पर उसे भी यह बात मनुष्य-स्वभावके विरुद्ध मालूम हुई और उसने 'लॉज' में सारे नागरिकोके लिए निजी कुटुम्ब-प्रथाका प्रतिपादन किया। हॉ, उसपर उसने राज्यका यथेष्ट नियंत्रण रखा है। यह प्रश्न अलग है कि यह नियंत्रण, विशेष कर आजकलके विशाल राज्योमें, चल सकता है या नही। स्त्री-पुरुषों-के सम्बन्धमें एक बात अफलातूनने ऐसी बतायी है जिसका

आचरण, भारतमें तो क्या, यूरोपीय देशोंमें भी आज नहीं होता। लिंग-भेदके सिवा अफलातूनने स्त्री-पुरुषोंके बीच कोई विशेष भेद नहीं माने हैं। उनसे भेद मानते हुए उसने केवल यही कहा है कि शारीरिक और मानसिक दृष्टिसे स्त्रियाँ पुरुषोंसे कदाचित् हीन हों। इसका मतलब यह नहीं कि इससे उनके अधिकारोंमें कोई विशेष अन्तर हो सकता है। शिक्षा, सामाजिक कार्य, सामाजिक पद, आदि सब दृष्टिसे दोनोंको उसने समसमान माना है। यहाँ तक कि उसने पुरुषोंके समान स्त्रियोंको भी सैनिक कार्य करनेको बताया है। इसी कारण दोनोंकी शिक्षा-दीक्षा बिलकुल एक ही बतायी है। इस मतसे कोई पुरुष अनुमत हो या न हो, पर उसमें एक कलंक अवश्य देख पडता है। वह यह है कि दोनोंके समसमान कार्य, पद आदिकी व्यवस्था उसने दासोंके अस्तित्वपर रची है। 'रिपब्लिक' में तो प्रथम दो वर्गोंके निजी घर हैं ही नहीं। पर 'लॉज' में सबके निजी घर होने पर भी लड़को-बच्चोंको बहुतेरी देख-रेख तथा गृह-व्यवस्था उसने दासोंके हाथ सौंप दी है। यदि हम दास-प्रथाको ठीक नहीं समझते तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि लड़कों-बच्चोंके समस्त कार्य तथा गृह-प्रबन्ध कौन करे? इसका जबतक यथोचित उत्तर नहीं मिलता और जब तक हम अपनी स्त्रियोंके अंग-भङ्ग और नैतिक अपमान आदि सहनेको तैयार नहीं होते, तब तक स्त्रियों और पुरुषों दोनोंको सब कार्य समान रीतिसे नहीं बाँटे जा सकते। जिस अफलातूनने समाजके लिए स्वधर्मानुसरणका तत्व, स्वकर्माभिरतिका तत्व, प्रतिपादित किया है, जिसने बुद्धि, तेज, वासनाके अनुसार लोगोंके मनका वर्गीकरण कर लोगोंका भी तदनुसार वर्गीकरण किया है और तदनुसार समाजके कार्योंका विभाजन

किया है, वह न जाने कैसे यह न देख सका कि दास-प्रथाके अभावमें दोनोंके कार्य बिलकुल एक होना असम्भव है, दोनों-की प्रकृतिमें ही कुछ अन्तर है और इस कारण उपर्युक्त तत्वके अनुसार उनके भी कार्य बहुतांशमें भिन्न होने चाहिये, लोग अपनी स्त्रियोंका अंग-विच्छेद करवाना पसन्द न करेंगे और उनका अपमान न सह सकेंगे तथा गेहिक कामोंके कारण उन्हें यथेष्ट अवकाश न मिलेगा, इसलिए सैनिक कार्य स्त्रियोंसे पुरुषोंकी नाईं भलीभाँति न बन सकेगा? घर और बाहर दोनोंका समान सम्मान होना अलग बात है और सभी कार्यमें दोनों-में समान भाग लेना अलग बात है। हमारी सम्मतिमे संसार भूलमें पडकर बहक गया है। यदि संततिप्रजनन स्वाभाविक है और समाजके लिए आवश्यक है तो विवाहसंस्थाका होना आवश्यक है। यदि विवाह-संस्था है तो कटुम्ब बन जाता है। उसका प्रबन्ध किसीके हाथमे होना चाहिये। स्त्री ही केवल इस कार्यको उत्तम रीतिसे सम्पादित कर सकती है। इस कारण समाज और गृहके कार्योंका एक स्वाभाविक विभाजन हो जाता है। फलतः दोनोंके कार्य्य समान होना असम्भव है। यदि हम विवाह-संस्थाकी आवश्यकता किसी प्रकार दूर कर सकें तब कदाचित् कुछ अंशमें दोनोंके कार्य्य समान हो सकेंगे, पर स्मरण रखना चाहिये कि यह भी केवल कुछ अंशमें हो सकेगा, सर्वांशमे नही। क्योंकि लिंग-भेदके कारण ही कुछ कार्य भिन्न हो जाते हैं और स्त्रियाँ कुछ कार्योंमें अविरत नही लगी रह सकती। अफलातून संयुक्त कुटुम्ब-प्रथाके विरुद्ध है। उसका मत आजकल यूरोपमें प्रचलित है। भारतीय लोग कदाचित् उसका मत कभी न मान सकेंगे। बहुत अधिक कलह होनेपर और उनका मेल होनेकी सम्भावना न रह

जाने पर अफलातूनने 'लॉज' में विवाह-विच्छेद-प्रथाको माना है। पर सिद्धान्तमें वह भी इसके विरुद्ध जान पड़ता है और एकपत्नी-पतिकी प्रथाका वह समर्थक है।

अफलातूनके ग्रंथोंकी यदि कोई विशेषता सर्वोच्च कही जा सकती है तो वह है सबके लिए शिक्षाकी आवश्यकताका महत्व। स्त्री और पुरुष, छोटे और बड़े, सबके लिए उसने शिक्षा अनिवार्य बतायी है। उसने शिक्षाके महत्वपर जितना ज़ोर दिया है, उतना कदाचित् हमलोग आजकल सिद्धान्तमें भले ही मानते हों, पर व्यवहारमें उतना महत्व नहीं माना जाता। किसी भी राज्यमें व्यापार और शासनके सामने शिक्षाका कार्य गौण ही है। हाँ, जर्मनीने कुछ अंश तक यह सिद्ध कर दिया है कि राज्यके उद्देशोंको सिद्ध करनेके लिए नागरिकोंको शिक्षा देना आवश्यक है और तदनुसार शिक्षा दी भी जा सकती है। शेष देश तो इस सिद्धान्तमें बहुत पिछड़े हुए हैं। यह एक प्रश्न है कि शिक्षाका स्वरूप कैसा रहे,—क्या लोग केवल राज्यके उद्देश सिद्ध करनेवाले कलपुर्जे बन जावें अथवा समाजसेवा करते हुए कुछ निजी उच्च उद्देश भी सिद्ध कर सकें। परन्तु किसी भी दृष्टिसे विचार किया जाय, शिक्षाके महत्वको हम अब भी अच्छी तरह नहीं समझे हैं। अफलातूनके काल्पनिक राज्योंके प्रधान शासकोंके कार्य शिक्षामूलक ही हैं। 'लॉज' का प्रधान शासक तो केवल शिक्षा-मंत्री ही बन गया है। तथापि आश्चर्यकी बात है कि एक बातमें अफलातून बहुत पिछड़ा हुआ है। शिक्षाका महत्व मानते हुए भी शिक्षकोंका महत्व उसने कुछ भी नहीं माना है। उसकी शिक्षा-पद्धतिमें यह केवल कलंक सा जान पड़ता है। स्त्रियों और पुरुषोंके कार्योंको समान माननेके कारण दोनोंके लिए उसने वही शिक्षा

प्रतिपादित की है। उसकी शिक्षामें सैनिक शिक्षा और संगीत-शिक्षाका महत्व बहुत अधिक है। कदाचित् संसार उन्हें आज उतने महत्वका नहीं मान सकेगा। आज अनेक शास्त्रोंके उद्भवके कारण शिक्षाक्रममें अनेक भिन्न भिन्न विषय स्थान पा गये है। तथापि अफलातूनकी एक बात कभी नही मानी जा सकती। शिक्षा कभी भी अपरिवर्तनशील नहीं हो सकती। मनुष्य प्रगतिशील प्राणी है। उसका ज्ञान नित्य बढ़ता जा रहा है और उस ज्ञानको देनेकी रीतियाँ भी बदलती रहती हैं। साथ ही, समाज तथा व्यक्तिकी आवश्यकताए भी बदलती रहती हैं। इसलिए शिक्षामें समय समयपर परिवर्तन होना आवश्यक और स्वाभाविक है। तथापि यह मानना चाहिये कि मूल उद्देशोंके विचारसे उसमें कुछ अश तक स्थिरता होना भी आवश्यक है। जिस शिक्षासे व्यक्ति और समाजके उद्देश पूर्ण नही हो सकते, वह शिक्षा शिक्षा कहलाने योग्य नही हो सकती। स्त्रियोंके लिए भी शिक्षाकी आवश्यकतापर अफलातूनने जो ज़ोर दिया है, वह सर्वथा उचित है। हमारा मतभेद केवल इसी बातमें है कि वह शिक्षा किस प्रकार की हो।

इस प्रकार अफलातूनके ग्रंथ पढकर हमारे पाठकोंके मनमें अनेक प्रश्न उठ सकते है। आशा है, वे उनका उत्तर अपनी अपनी ओरसे ढूँढ निकालनेका प्रयत्न करेंगे।

परिशिष्ट ।

हिन्दुओंकी सामाजिक व्यवस्था ।

मनुष्य और अन्य प्राणियोंमें जो अनेक भेद हैं, उनमें यह भी एक है कि मनुष्य समाज-प्रिय प्राणी है, अन्य प्राणी ऐसे नही हैं। यदि सिद्धान्तरूपसे ही विचार किया जाय तो कई प्राणी ऐसे अवश्य मिलेंगे कि जिनमें अल्पांशमें सामाजिकता देख पडती है। परन्तु यह तो स्वीकार करना होगा कि मनुष्यमें जितनी सामाजिकता है और, उसकी अन्य विशेषताओ और आवश्यकताओके कारण, सामाजिकताका जितना विकास मनुष्य-संसारमें देख पड़ता है, उतना अन्य किसी प्राणीमें नहीं। सामाजिकता मनुष्यकी उस शक्तिका कारण है जिससे संसारके समस्त प्राणियों और वस्तुओपर उसका अधिकार हो गया है। मनुष्य समाज-प्रिय है। परन्तु इतना ही कह देनेसे मनुष्यकी सामाजिकताका पूरा वर्णन नही होता। इसके साथ यह भी कहना चाहिए कि मनुष्यको समाजकी अत्यन्त आवश्यकता है। यदि वह अन्य प्राणियोसे भौतिक और मानसिक दशामें ऊंचा होकर रहना चाहता है, तो उसे समाजका अवलम्बन करना ही पड़ेगा। इतना ही नही, यदि मनुष्य इस संसारमें केवल जीवित रहना चाहे तो भी अन्य प्राणियोंसे कुछ अंशमें अधिक सामाजिकताका आश्रय उसे लेना ही होगा। मनुष्य जैसा परावलम्बी प्राणी अन्य कोई नही है। बिलकुल जङ्गली दशामें रहनेपर भी, प्रकृतिसे उगनेवाले फल-फूल खाकर अथवा अन्य छोटे छोटे प्राणियोंकी हिंसा करके

जीवन-निर्वाह करनेपर भी उसे कमसे कम आठ दश वर्ष तक, परावलम्बी रहना होगा—माताको उनके पालन-पोषणका भार अपने ऊपर लेना ही होगा। यह मनुष्यकी अत्यन्त हीन दशाकी कल्पना है। अबतक जितनी जङ्गली जातियोंका पता लगा है, उनकी दशा इस काल्पनिक दशासे कई दर्जे अच्छी है।

परन्तु इस दशामें मनुष्य सन्तुष्ट नहीं रह सकता। परमेश्वरने उसे बुद्धि दी है और उसके कारण भौतिक और मानसिक दृष्टिसे वह नित्य अपनी उन्नति करनेका प्रयत्न कर रहा है। इसी कारण तो सभ्यताकी अनेक श्रेणियाँ हैं। मनुष्यका इतिहास यही बतलाता है और उसकी मानसिक रचना उसे इसी ओर सदैव ले जा रही है। इस कारण वह समाज-सङ्गठनके सम्बन्धमें नये नये विचार किया करता है। कही भौतिकताका महत्त्व अधिक है, अतएव वहाँ भौतिक उन्नतिको सिद्ध करनेवाली संस्थाएँ अधिक देख पड़ती हैं। जहाँ मानसिक उन्नतिका महत्व अधिक है वहाँ इस उन्नतिको सिद्ध करनेवाली सस्थाएँ अधिक प्रभावशाली है। फिर, भौतिक और मानसिक उन्नतिके इतने भेद है कि कुछ कहा नही जा सकता। उन भेदोंके अनुसार भी संस्थाओंकी भिन्नता सर्वत्र देख पड़ती है। सारांश, मनुष्यकी जितनी संस्थाएँ हैं वे कम-अधिक मनुष्यकी भौतिक अथवा मानसिक उन्नति अथवा उसकी रक्षाके हेतुसे ही बनी हैं। इन हेतुओंमें परिवर्तन होनेसे, उन हेतुओंको सिद्ध करनेके नये उपाय सूझनेसे, अथवा सामाजिक या भौतिक परिस्थितिके बदल जानेसे उन संस्थाओंमे परिवर्तन हुआ करते है। यह संसार परिवर्तनशील है, मनुष्य परिवर्तनशील है और उसकी संस्थाएँ भी परिवर्तनशील है। पुरानी संस्थाओंका बेकाम होना और नयी

संस्थाओंकी आवश्यकता उत्पन्न होना एक स्वाभाविक बात है। कभी जान-बूझ कर तो कभी अनजाने ही मनुष्य अपनी सामाजिक व्यवस्थाओंको बदलता रहता है। हिन्दुओंकी सामाजिक व्यवस्थामें भी परिवर्तनकी आवश्यकता है।

संसारकी गतिमें पड़ कर बिना समझे-बूझे अपनी सामाजिक व्यवस्थाओंमे परिवर्तन करना मनुष्य जैसे बुद्धिमान् प्राणीके लिए ठीक नहीं। उसे तो सदैव सोच-समझ कर ही कोई भी परिवर्तन करना चाहिए। सामाजिक व्यवस्थाओंमें परिवर्तन करनेके प्रश्न बहुत ही महत्त्व पूर्ण है, क्योंकि उनका उसपर बड़ा भारी परिणाम होता है। ऊपर हम कह ही चुके हैं कि जानबूझ कर या अनजाने मनुष्य अपनी भौतिक या मानसिक उन्नतिके लिए नित्य नयी संस्थाएँ बनाता है। प्रश्न यह है, क्या मनुष्यके छोटे-बड़े उद्देशोंके परे कोई उच्चतम उद्देश है? क्या उसके सारे प्रयत्न किसी एक उद्देशकी सिद्धिके लिए हो रहे हैं अथवा उन अनेक कार्यों में कोई परस्पर मेल नहीं है? इस प्रश्नका उत्तर इतिहास और मानसिक रचनाके आधारपर ही दिया जा सकता है। दोनों यही बतलाते हैं कि वह किसी उच्चतम उद्देशकी सिद्धिके लिए ही सारे प्रयत्न करता है, उसके सारे कार्य किसी उच्चतम दशाकी ओर उसे अग्रसर कर रहे हैं। इस उच्चतम दशाकी कल्पना भले ही स्थान स्थानपर भिन्न भिन्न हो। परन्तु सर्वत्र यह कल्पना है अवश्य। खाने-पीने और ओढ़नेमें अर्थात् शारीरिक जीवनको सुधारनेमें ही उसके सारे प्रयत्न समाप्त नहीं होते, वह इतनेसे ही कभी सन्तुष्ट नहीं रहा। शारीरिक सुखकी उन्नति केवल साधनमात्र है। हम यह भी मान सकते है कि कभी कभी वह इसीमें इतना लिप्त हो जाता है कि उसे और किसी बातका

खयाल नहीं रह जाता। परन्तु यह भी सत्य है कि उसकी आँखें खुलनेका मौक़ा आता ही है और तब वह इसके परेकी बातें सोचता है। वह इतना तो अवश्य समझ लेता है कि सांसारिक सुखोंके लिए ही उच्च गुणोंका मनुष्यको आश्रय करना चाहिए जिनका अन्य प्राणियोंमें अभाव है। अन्यथा आवश्यक सांसारिक सुख भी प्राप्त नहीं हो सकता। अपने ही सुखोंकी वृद्धिके लिए यह आवश्यक होता है कि अपने कुछ सांसारिक सुखोंका त्याग अवश्य किया जाय। सारांश, उच्च उद्देश अपने सामने रखे बिना मनुष्यका इस संसारमें निर्वाह होना कठिन है।

यदि यह सिद्ध हुआ कि सांसारिक सुखोंके लिए उच्च उद्देशोंकी आवश्यकता है तो यह सिद्ध ही मानना होगा कि मानसिक उद्देशोंकी सिद्धिके लिए किसी उच्चतम उद्देशकी आवश्यकता है। इस उच्चतम उद्देशका स्वरूप चाहे नैतिक हो या धार्मिक, परन्तु वह केवल बौद्धिक नहीं हो सकता। बुद्धिका कितना ही विकास हो, पर वह सन्तुष्ट नहीं होता। वह सदैव किसी उच्चतम स्थितिकी कल्पना करता है। इसी उच्चतम स्थितिकी सिद्धिकी सम्भावना सारे समाज-सुधारकी कसौटी है। उस उच्चतम उद्देशमें अन्य सारे उद्देश लीन हो जाते हैं। उसकी सिद्धिकी सम्भावनासे अन्य सारे उद्देश आप ही सिद्ध होते जाते हैं। हम इस बातको मान नहीं सकते कि मनुष्य समाजसे अलग होकर अपनी आत्यन्तिक उन्नति कर सकता है। देखनेसे किसीको भले ही ऐसा मालूम पडे कि यह सांसारिक जीवन मनुष्यकी उन्नतिके मार्गमें बाधक है, परन्तु यह अदूरदर्शिता है। मनुष्य-जीवनके सारे प्रश्नोंकी छान-बीन करनेपर मनुष्य इस नतीजेपर अवश्य पहुँचता है कि समाजके

बिना उसकी किसी प्रकारकी उन्नति नहीं हो सकती। उन्नतिकी कल्पना ही वह समाजसे पाता है। यदि वह अकेला छोड़ दिया जाय और भाग्यवशात् किसी प्रकार जीवित रह भी जाय तो वह अन्य प्राणियोंसे बहुत कम भिन्न होगा। समाजके बिना मनुष्यकी भाषा आती नहीं, भाषाके बिना वह ज्ञानमें पशुके बराबर ही रहेगा, उसके बिना उन्नतिकी कल्पना न हो सकेगी। उन्नतिकी कल्पनाके लिए भी वह समाजका ऋणी है। बालपनसे हिमालयमे छोड़ देनेसे कोई मनुष्य ब्रह्म-स्वरूप को प्राप्त न कर सकेगा। इसके लिए उसे अभीष्ट काल तक समाजमे रहना ही होगा। सारांश, मनुष्य अपने सारे प्रयत्न किसी उच्चतम उद्देशकी सिद्धिके लिए करता है और यही उद्देश समाजके सङ्गठन और सुधारकी कसौटी है।

अभीके हमारे कथनमे एक बात अध्याहृत है। समाजमे रहकर ही यदि व्यक्तिके उच्चतम उद्देशोंकी पूर्ति हो सकती है तो यह स्पष्ट है कि व्यक्ति और समाज दोनोंके प्रयत्नका परिणाम एक ही होना चाहिए—इस प्रकारकी एकतासे ही मनुष्यकी उन्नति हो सकती है। इसका यह अर्थ नहीं कि समाज भी किसी तरहका उच्चतम उद्देश अपने सामने रखकर समष्टि-दृष्टिसे उसकी ओर अग्रसर हो सकता है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि समष्टि-दृष्टिसे जो फल देख पड़ता है, वह केवल व्यष्टि-दृष्टिसे किये प्रयत्नोका फल है। इसपर प्रश्न हो सकता है, व्यक्ति और समाजके उद्देश फिर किस प्रकार एक हो सकते हैं? व्यक्ति और समाजके उद्देशोंके एक होनेका मतलब है ही क्या? इसका मतलब यही है कि समाज अपने बन्धनों-द्वारा व्यक्तिको हीन प्रवृत्तियोंके अनुसार चलनेसे रोक सकता है, उच्चतम उद्देशका प्रकाश उसके मनमें पैदा कर सकता है, शान्ति और सुखके स्थापन-द्वारा वे सब

आवश्यक परिस्थितियाँ पैदा कर सकता है कि जिससे वह उच्चतम उद्देश सिद्ध हो सके। इससे अधिक कोई बात कोई समाज नहीं कर सकता, समाज व्यक्तिके उच्चतम उद्देशोंकी सिद्धि किसी प्रत्यक्ष प्रयत्न-द्वारा नहीं करा सकता। यह कार्य व्यक्तिको ही करना होगा। समाज शिक्षा दे सकता है, हीन बातोंमें पड़नेसे रोक देनेका प्रयत्न कर सकता है, भौतिक वस्तुओंकी आवश्यकताओंकी पूर्तिकी सम्भावना कर सकता है, शान्ति और सुखकी स्थापना कर मनुष्यके व्यक्तिगत प्रयत्नोंको आगे बढ़ने दे सकता है। इसी अर्थमें समाज और व्यक्तिके उद्देश एक कहे जाते हैं। शिक्षासे लाभ लेनेका, बन्धनोंसे लाभ उठाकर हीन मार्गमें जानेसे रुकनेका, भौतिक वस्तुएँ पैदा करनेका, और शान्ति तथा सुखका लाभ उठाकर अपने उच्चतम उद्देशकी ओर बढनेका कम या अधिक प्रयत्न व्यक्तिको ही करना होगा। केवल सामाजिक व्यवस्थाओंसे व्यक्तिके उद्देशोंकी पूर्ति होती नहीं। समाज केवल यही कर सकता है कि व्यक्तिके उद्देशोंको पहचान कर उनकी सिद्धिके लिए सर्व आवश्यक परिस्थिति बना रक्खे। इसके परे व्यक्तिके प्रयत्नोंकी आवश्यकता है। और यही सामाजिक बन्धनों और कार्योंकी सीमाकी तथा उनके स्वरूपोंकी असली कसौटी है। किसी समाजमें व्यक्तिके उच्चतम उद्देशोंकी सिद्धि कहाँ तक हो सकती है, इसी बातसे यह जाना जा सकता है कि उस समाजकी संस्थाएँ, बंधन, कार्य आदि कहाँतक उचित हैं और कहाँतक अनुचित हैं। समाजकी संस्थाओं, बन्धनों, कार्यों आदिसे यदि व्यक्तिके उच्चतम उद्देशकी सिद्धिकी सम्भावना रही तो हम कह सकते हैं कि वहाँ समाज और व्यक्तिके उद्देशोंमें एकता है, मेल है— समाज व्यक्तिकी उन्नतिमें बाधक नहीं है।

इस उद्देशकी पूर्तिके लिए जिन जिन सामाजिक व्यवस्थाओंकी आवश्यकता होती है उनमें श्रम-विभाग-मूलक सामाजिक व्यवस्थाकी आवश्यकता सबसे महत्व-पूर्ण है। सभी समाजोंमें और सभी कालोंमें यह तत्त्व किसी न किसी रूपमें रहा है। उसके विना मनुष्यकी किसी प्रकारकी अधिक उन्नति नहीं हो सकती। यदि प्रत्येक मनुष्य अपनी समस्त आवश्यकताओं और रक्षाके लिए निजपर अवलम्बित रहे तो उसकी उन्नति तुरन्त अवरुद्ध हो जाती है। अपनी आवश्यकताएँ स्वयं पूर्ण करनेका मौका आते ही मनुष्य उन्हें कम करने लगता है, न्यूनतम वस्तुओंसे ही वह अपना सन्तोष कर लेता है, अपने जीवनका उसे सदा भय बना रहता है, और इन कारणोंसे मानसिक और नैतिक उन्नतिकी ओर वह ध्यान दे ही नहीं सकता। इसलिए इस बातकी आवश्यकता होती है कि एक मनुष्य एक काम करे, दूसरा दूसरा काम करे, तीसरा तीसरा काम करे और इस तरह वे परस्परकी आवश्यकताएँ पूर्ण करें। इसी तरह भौतिक उन्नति शक्य हुई है, और आज तो वस्तुओंके उत्पादनमें श्रमविभागका तत्त्व बहुत ही सूक्ष्म रीतिसे उपयोगमें आता है। आज-कलके कारखानों और उद्योग-धन्धोंसे जिस किसीका थोड़ा बहुत परिचय होता है, वह इस बातको जरूर जान जाता है। जब आर्य लोग भारतमें पहले पहल आये, तभीसे उस समाजमें श्रमविभागका तत्त्व धीरे धीरे आने लगा। क्रमशः उसका विकास होता गया और उसीका परिणाम हिन्दुओंका जाति-बन्धन हुआ। संसारके समस्त राष्ट्रोंमें किसी न किसी प्रकारके जाति-बन्धन अवश्य रहे। स्पर्शास्पर्श और जाति-बन्धनसे कोई आनुषङ्गिक सम्बन्ध नहीं है। इसकी सृष्टि शायद स्वाभाविकतया हुई हो, शायद

ब्राह्मणोंने अपनेको दूसरोंसे अलग करनेके लिए या अपना बड़प्पन बनाये रखनेके लिए जान-बूझ कर उसकी सृष्टि की हो, कदाचित् (और यही अधिक सम्भव है) इन दोनों रीतियोंसे स्पर्शास्पर्शकी सृष्टि हुई हो । जाति-बन्धनकी स्थिरताके लिए स्पर्शास्पर्शकी आवश्यकता समाज-व्यवस्थापकोंको ऊँची हो और कार्यविभागकी आवश्यकताने उसकी सृष्टि सरल कर दी हो । परन्तु यह बात स्पष्ट है कि स्पर्शास्पर्श श्रमविभागमूलक जाति-बन्धनका आवश्यक अंग नहीं है । जिस समय आधुनिक विज्ञान न था, आवागमनके आधुनिक साधन न थे, शिक्षाका प्रसार कुछ तो गुरुओं-द्वारा और कुछ परम्पराकी रीतिसे ही हो सकता था, उस समय विशिष्ट कार्योंका, विशिष्ट उद्योगोंका, विशिष्ट कुलोंमें परम्परासे चलना आवश्यक तथा स्वाभाविक था । जैसा ऊपर कहा जा चुका है, संसारके प्राचीन राष्ट्रोंमें श्रमविभाग-मूलक जाति-बन्धनका स्वरूप जरूर देख पड़ा है । समाजका रथ चलनेके लिए जो अनेक कार्य मनुष्यको करने पड़ते हैं, उनमें (१) विद्या, उसका प्रसार और उन्नति, (२) समाजकी शत्रुओंसे रक्षा, (३) भौतिक वस्तुओंका उत्पादन और वितरण तथा (४) व्यक्तियोंके घरेलू कार्योंकी सिद्धि आवश्यक भाग हैं । समाजके कार्योंके ये स्वाभाविक भेद हैं । ऐसे ही भेद अन्य राष्ट्रोंमें हैं । कुछ लोगोंका विद्या और धर्मको बढ़ाना, कुछ लोगोंका शस्त्र धारण कर राष्ट्रकी रक्षा करना, कुछ लोगोंका कृषि-वाणिज्य आदिमें लगना, और कुछका सेवा-शुश्रूषा करना कई जगह देखा गया है । विचार करनेपर सिद्धान्तरूपसे भी ये भेद निष्पन्न होते देख पड़ते हैं । उदाहरणार्थ, अफलातून जैसा दार्शनिक अपने संसार-प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रिपब्लिक' में यही

तत्त्व प्रतिपादित करता है। उसने भी सब स्वतंत्र लोगोंके तीन वर्गीकरण किये हैं। दार्शनिक शासकोंका एक वर्ग है, रक्षा करने वालोंका दूसरा वर्ग है, कृषि-वाणिज्यादि करने वालोंका तीसरा वर्ग है। यह स्मरण रहे कि एक कुटुम्बपद्धतिका बहुत कुछ स्वीकार किया गया है। इस कारण वहाँ दासोंकी आवश्यकता केवल वैश्य वर्गके लिए देख पड़ती है। तथापि इस विषयमें उसका कथन स्पष्ट नहीं है। हाँ, "लॉज" नामक ग्रन्थमें सेवा-शुश्रूषाके लिए दासोंकी आवश्यकता स्पष्ट बतलाई गयी है। यदि "रिपब्लिक" में अंशतः एक-कुटुम्ब-पद्धतिका स्वीकार उसने न किया होता तो उसे उसमें भी स्पष्टतया दासोंकी प्रथा-का, यानी शूद्रवर्गका, स्पष्टतया स्वीकार करना पड़ता। अफ-लातूनने शासनाधिकार दार्शनिकोंको दिया है, रक्षा करनेवा-लोंको नहीं। इससे शायद कोई कहे कि उसकी काल्पनिक व्यवस्थामें और भारतकी ऐतिहासिक व्यवस्थामें भेद है। परन्तु एक बात स्मरण रखनी चाहिए। भारतमें बहुधा क्षत्रिय ही राजा हुए हैं परन्तु उन्हें अपना शासन-कार्य्य ब्राह्मणोंकी सलाहसे ही चलाना पड़ा है—ब्राह्मण ही वास्तवमें सर्वदृष्टिसे व्यवस्थापक रहे हैं। यह बात ध्यान-में रखनेसे उल्लिखित भेद बहुत कम हो जाता है और दोनों व्यवस्थाएं क़रीब क़रीब एक समान देख पड़ती हैं। जाति-भेदसे भले ही अनेक बुराइयाँ हुई हों, परन्तु उससे समाजको अनेक लाभ भी हुए हैं। यह बात उसके कट्टर विरोधी भी मानते हैं। समाजमें स्थिरता, भिन्न भिन्न कार्योंकी कुशलता और इस कुशलताको परम्परागत शिक्षा तथा उत्त-रोत्तर उन्नति, इसीके साथ समाजमें सन्तोष और शान्ति और इस तरह व्यक्तिकी उच्चतम नैतिक उन्नति इसीके कारण

शक्य हुई। बुराइयाँ भी अनेक रहीं। स्थिरतासे उन्नति अवरुद्ध हुई, व्यक्ति अपनी अपनी प्रवृत्तिके अनुसार अपने गुणोंका आत्यन्तिक विकास न कर सके और इस कारण विद्या और शास्त्रकी उन्नति तथा प्रसारमें बाधा हुई, और इस तरह समाजकी अधोगति हो गयी। इन बुराइयों-भलाइयोंको देखनेसे यही जान पड़ता है कि समाजमें श्रमविभाग चाहिए, परन्तु परिस्थितिके अनुसार श्रमविभागका अमल भिन्न भिन्न रीतिसे करना चाहिए। शायद इस देशमें भी पहलेके व्यवस्थापकोंकी यह इच्छा न थी कि कोई इस जातिसे उस जातिमें कभी, किसी भी अवस्थामें, न जा सके। अन्यथा, गीताके 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः' का सन्तोषदायक अर्थ नहीं किया जा सकता। चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि केवल कर्मके ही अनुसार नही तो गुणके अनुसार भी की गयी थी या हुई थी। इतिहासके आधारपर यह कहा जा सकता है कि कुछ कालतक एक जातिसे दूसरी जातिमें लोग अपने गुणों और कर्मोंके अनुसार जा सकते थे—आज जैसा कठिन जाति-बन्धन कुछ कालतक न था। यदि कोई अपने उठाये कर्मोंमे चरम उन्नति करे, उससे समाजका हित करे और उस हितके स्वरूपको अच्छी तरह समझे तो उसकी उच्चतम नैतिक उन्नति हुए बिना न रहेगी। क्योंकि अन्तमे यह बात सब विचारवान् लोगोंको माननी पड़ती है कि मानसिक सुख ही वास्तविक सुख है और नैतिक उन्नति ही वास्तविक उन्नति है। इस लेखकके मतमें धार्मिक उन्नति नैतिक उन्नतिका ही एक विशिष्ट स्वरूप है। अपने कार्योंको यथासम्भव उत्तम रीतिसे करना, उससे समाजका हित सिद्ध करना तथा उस अवस्थामें सन्तोष मान कर अपने मनको सम बनाये रहना ही भौतिक और नैतिक उन्नतिको

प्राप्त करना है। "योगः कर्मसु कौशलं" और "स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः" जैसे तत्व अफलातूनको मानने पड़े हैं। वास्तवमें इनके सिवा समाजको कोई उपाय नहीं। मनुष्य प्रयत्न करे अवश्य, परन्तु यदि वह मनको सम न रख सके तो उसे शान्ति और सुख प्राप्त नही हो सकते। फिर वह भौतिक उन्नतिके परे कुछ सोच नही सकता, समाजमें जीवन-सङ्ग्राम कठिन और परस्पर विरोधी हो जाता है। अन्तमें समाज और व्यक्तिके वास्तविक उद्देशमें विरोध उत्पन्न हो जाता है और फिर शान्ति और सुख उनसे कोसों दूर भाग जाते हैं। अफ़लातूनने अपने ग्रन्थमे नैतिक विकासकी ही समस्या हल करनेका प्रयत्न किया है। और अन्तमें उसे भी एक प्रकारके जाति-बन्धनकी सृष्टि करनी पड़ी, और धर्म (justice) की मीमांसा करते करते इस परिणामपर पहुँचना पड़ा कि "धर्म अपने अपने कर्ममें कौशल-प्राप्ति ही है। अपनी स्थितिके कार्योंको पूर्ण करनेकी और दूसरेके कार्योंमें दखल न देनेकी इच्छाको ही धर्म (अथवा न्याय) कह सकते हैं।" निज कर्तव्योंको यथाशक्य उत्तम रीतिसे प्रतिपन्न करनेकी कल्पनाके सिवा किसी समाजकी गाड़ी ठीक चल नही सकती और न व्यक्तिको वास्तविक सुख मिल सकता है। आज-कल पाश्चात्य संसारमें भौतिक वस्तुओंकी भोगेच्छा अत्यन्त प्रबल हो गयी है। इस कारण वहाँ सुख और शान्ति नही है। मनुष्यका जीवन समुद्रकी मछलियों जैसा जीवन हो गया है। सुख और शान्तिके लिए गीताके कर्मयोगके सिवा संसारमे कोई अन्य उपाय नही है। इसीलिए हमारे यहाँ "योगः कर्मसु कौशलं" और "स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः" जैसे तत्त्व साथ ही साथ प्रतिपादित किये गये। किसी न किसी प्रकार-

का श्रम-विभाग प्रत्येक समाजके लिए आवश्यक है। उसका स्वरूप क्या हो, यह समयानुसार ही निश्चित हो सकता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि श्रम-विभागका तत्त्व समाज आप ही आप उत्पन्न करता है। परन्तु वर्णाश्रम-व्यवस्थाकी वैसी बात नहीं है। यह व्यवस्था हमारे पूर्वजोंकी अत्यन्त मौलिक कल्पना है। इसमें स्वाभाविकता बहुत कम है। बाल्यकालमें अपने बड़ोंसे शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक होता है, बड़े होनेपर विवाह करना आवश्यक होता है। परन्तु गृहस्थाश्रमका अनुभव पानेपर अपनी नैतिक अथवा धार्मिक उन्नतिके लिए संसारके बन्धनोंसे दूर होनेका प्रयत्न करना प्रत्येक मनुष्यके लिए समान स्वाभाविक है नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्यमें स्वभावतः नैतिक अथवा धार्मिक उन्नतिकी इच्छा नहीं है। वह इच्छा है अवश्य, परन्तु उसका इन्द्रिय-सुखके लोभसे और संसारकी ममता-मायासे दब जाना भी उतना ही स्वाभाविक है। यही दूसरा परिणाम मनुष्य-जातिमें सदैव देख पड़ता है। संसारका यथेष्ट अनुभव पाने पर, संसारका रथ कुछ कालतक खींच चुकने पर, अपनी उन्नतिकी ओर लगनेकी अनिवार्य व्यवस्था केवल आर्योंने ही उत्पन्न की। इस व्यवस्थाके कारण हिन्दूसमाजकी कई प्रकारकी उन्नति हुई और वह कई प्रकारकी बुराइयोंसे बचा रहा। बाल-विवाहकी प्रथा उस व्यवस्थामें शक्य न थी और उसकी बुराइयाँ समाजमें घुसनेकी सम्भावना न थी। जहाँ बाल-विवाह नहीं, वहाँ बालवैधव्यका चमत्कार भी देख पड़ना सम्भव न था। वृद्धविवाहकी सम्भावना न थी। गृहस्थाश्रमका जीवन बिताये बिना इन्द्रिय-सुखकी पिपासा जो नितान्त अतृप्त रहती है, और इस कारण समाजके ऐसे लोग जो

अनेक अत्याचार और दुराचार करते हैं, उसकी सम्भावना न थी। दूसरोंकी स्त्रियोंपर बुरी नज़र रखनेवालों, वेश्याओं-को पालनेवालों, अथवा गृहस्थाश्रममें अत्यन्त लिप्त साधु-वैरागियों आदिका उस समय देख पड़ना सम्भव न था। यह विचित्र चमत्कार इस व्यवस्थाके अन्त हो जाने पर ही उत्पन्न हुआ है। उस समय यह भी न था कि जिन्हें गृहस्थाश्रम-द्वारा समाजकी सेवा करनी चाहिए, साथ ही अपनी इन्द्रियोंकी स्वाभाविक पिपासा कुछ सन्तुष्ट करनी चाहिए, वे समाजके ऐसे कार्य करनेमें लगे रहें कि जिनसे गृहस्थाश्रमको, और इस प्रकार समाजको, धक्का पहुँचे। समाजकी ऐसी सेवा करनेका काम तृतीय और चतुर्थ आश्रमवालोंका था। गृह-स्थाश्रम समाजका स्तम्भ है। व्यक्तिगत इन्द्रिय-सुख-पिपासा-के सन्तोषसे समाज नीतिहीनता, अशान्ति, दुःख, अन्याय, दुराचार और अत्याचारसे बचता है। साथ ही वह अन्य तीन आश्रमोंका पोषक भी है—उसीपर अन्य तीनों आश्रम अवलम्बित हैं। उसीकी सहायतासे बच्चे समाजके अङ्ग बनते हैं, और तृतीय और चतुर्थ आश्रमवाले समाजकी धार्मिक, नैतिक, विद्याविषयक आदि सेवा कर सकते हैं। आजकल इधर लड़केका विवाह होता है, तो उधर पिताका द्वितीय या तृतीय विवाह होता है। दोनों गृहस्थाश्रम साथ ही व्यतीत करते हैं। इसके कारण समाजमें और घरमें जो बुरा-इयाँ घुसती हैं, उनकी केवल कल्पना करना ही अच्छा है, उन्हें देखना किसीको नहीं भाता। साथ ही प्रौढ़ लड़कोंके प्रत्येक कार्यमें बड़े जिस प्रकार अनुचित रीतिसे हस्तक्षेप करते हैं और उसके कारण घर घरमें जो झगड़े चलते हैं, वे सबपर प्रकट ही हैं। मरते दमतक गृहस्थाश्रममें लिप्त रहने-

के कारण मातापिताको अपने लड़कोसे गालियाँ सुनना, मार-पीटका भी प्रसाद पाना और कभी कभी विषादिसे सेवा ग्रहण करनेका मौक़ा आना स्वाभाविक है। और इस कारण मूल मानवी उद्देशोंका सदैव अपूर्ण बने रहना तो नितान्त स्वाभाविक परिणाम है। वर्णाश्रम-व्यवस्थासे अनेक बुराइयाँ रुकती हैं और समाजकी गाडी बिना विशेष कष्टके अच्छी तरह चल सकती है। इसलिए कुछ पाश्चात्य लोग भी अब इसका समर्थन करने लगे हैं। हिन्दू-समाजसे इसका लोप हो जाना अत्यन्त खेदकारक बात है। बढ़ती मनुष्य-संख्याका डर दूर करनेका यह एक उत्तम साधन है। कुछ भोग तो कुछ संयम ही इस समस्याको दूर करनेका, साथ ही मनुष्यकी व्यक्तिगत उन्नति शक्य करनेका, उत्तम उपाय है।

वर्णाश्रम-व्यवस्थामें गृहस्थाश्रम अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग है। और इसलिए सामाजिक व्यवस्थामें पतिपत्नी-सम्बन्धका विचार आना स्वाभाविक है। पाश्चात्य विद्वान् हमपर यह दोष लगाया करते हैं कि हम अपनी स्त्रियोंको गुलामोंकी नाईं रखते हैं। परन्तु यह आरोप सिद्धान्तमें तो नामको भी सत्य नही है—हाँ, व्यवहारमें उसमें कुछ सचाई देख पड़ती है। सिद्धान्तकी दृष्टिसे हिन्दुओंमें पति और पत्नी दोनों बराबर हैं—दोनों संसाररूपी रथके नितान्त आवश्यक चक्र हैं, उनके बिना संसार चल नहीं सकता, और इस कारण दोनोंका महत्व एक बराबर है। हमारे पूर्वजोंने इस बातको अनेक प्रकारसे माना है। जिस मनुस्मृतिमें 'न स्त्री स्वातन्त्र्य मर्हति' कहा है, उसीमें ऐसा भी कहा है कि—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥

'न स्त्री स्वातन्त्र्य मर्हति' वाले श्लोकसे हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि हमारे शास्त्रकारोंने स्त्रियोंको गुलामोंकी नाईं रखनेकी बात प्रतिपादित की है । यह सबको मानना पड़ता है कि पुरुषसे स्त्री कुछ अधिक चञ्चल होती है। इसलिए उसे कुछ बन्धनमें रखना आवश्यक है । इसीसे उसपर पुरुषोंका नियमन रहना आवश्यक है । इसीलिए 'पिता रक्षति कौमारे' आदि कह कर 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' कहा गया है। शास्त्रकार-का मत यह कदापि नहीं हो सकता कि स्त्रियाँ गुलामोंकी नाईं रक्खी जायँ। ऐसा माननेसे आत्मविरोधका दोष उस शास्त्र-कारपर मढ़ना होगा, क्योंकि उसीने 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते' जैसी बातें अनेक स्थानोंपर कही हैं । हिन्दुओंका अन्तिम हेतु उच्च रहा है, वह है उच्चतम अवस्थाको प्राप्त करना । इसके लिए मानसिक शिक्षा चाहिए। पति-पत्नी-सम्बन्धको अविभाज्य कर, दोनोंको एक ही रथके समान चक्र बना कर, दोनोंको एक ही उच्चतम स्थानके प्रवासी मानकर, हिन्दुओंने इस सम्बन्धकी जो कल्पनाएँ संसारमें प्रतिपादित की हैं उनसे उच्चतर कल्पनाएँ ढूँढ निकालना शक्य नहीं । विवाहके बाद पति-पत्नी मिलकर एक नया प्राणी बन जाता है । उसमें स्त्री और पुरुष अविच्छिन्न रूपसे मिले हुए हैं। उनका उद्देश्य सदैव एक है। जहाँ भिन्नताकी कल्पना ही नहीं, वहाँ भिन्नताकी कल्पना आरोपित कर यह कहना कि हिन्दुओंमें स्त्रियोंको गुलामोंकी नाईं रखनेके लिए कहा है, हिन्दुओंके साथ सरासर अन्याय करना है। आधुनिक पाश्चात्य लोग इसे अपनी दृष्टिसे देखते हैं और इस कारण वे इसका सच्चा अर्थ समझ नहीं सकते । सिद्धान्तरूपसे हिन्दुओंमें पति और पत्नी-का महत्त्व समान है, परन्तु उनका सम्बन्ध अविभाज्य है,

वे दोनों मिलकर एक तीसरा प्राणी बन जाते हैं। अन्यथा 'अर्धाङ्गिनी', 'सहधर्मिणी' आदि शब्दोंका कोई अर्थ न रह जायगा। परन्तु व्यवहारमें इस सिद्धान्तको कुछ नियमित करना पडता है।

जो पाश्चात्य लोग 'स्त्रियोंकी गुलामी' की कल्पनापर इतने बिगडते हैं, समाजमें क्या उनकी कल्पनाएँ व्यवहारमें कभी देखनेमें आयी या आती है। वहाँ भी प्रत्येक घरमें स्त्रीकी सत्ताकी अपेक्षा पुरुषकी सत्ताकी ही अधिक चलती है। कही भी अन्तिम अधिकार एकहीके हाथमें रहनेसे वहाँका शासन अच्छा चलता है और वहाँ समृद्धि, शान्ति और सुखकी सम्भावना हो सकती है। बाग़ी होनेकी नौबत आनेपर ही कई यूरोपीय देशोंमे स्त्रियोंको राजकीय अधिकार प्राप्त हुए हैं। घरमें तो दोनों बराबर अधिकारी हैं ही नही, परन्तु समाजकी अनेक व्यवस्थाओंमें वहाँ भी सदैव पुरुषोंका अधिकार बहुत अधिक रहा है और है। दोनों जब सब जगह समान अधिकारी होंगे तब समाजकी क्या अवस्था होगी, यह कहा नही जा सकता। इसमें सन्देह नही कि वहाँ स्त्री और पुरुष विवाहके बाद भी भिन्न भिन्न ही समझे जाते हैं। इस कारण दोनोंकी मानसिक अवस्थाओंका पूर्ण मेल कभी नही होता। परिणाम यह होता है कि मतभिन्नता और अधिकारके लिए घरोंमे सदैव झगडे होते रहते है। सन्तोष, शान्ति और सुख उनसे कोसों दूर रहते हैं। भौतिकताका अत्यन्त प्रबल साम्राज्य है। इसका परिणाम यह होता है कि थोड़ेमें सांसारिक जीवनको सुखी करना वे नही जानते, फलतः विवाह-बन्धनोंमें पड़नेसे डरते है। इसका नतीजा नैतिक दुराचार है, जिसके कारण कई सरकारोंको लावारिस बच्चे पोसनेका एक

विभाग बनाना पड़ा है। कहीं कहीं पुत्रोत्पत्तिके लिए इनामका प्रलोभन दिया जाता है। अत्यन्त भौतिकताका, जीवनमें उच्च उद्देशोंके अभावका, यह स्वाभाविक परिणाम है। भौतिकताके कारण सन्ततिकी स्वाभाविक इच्छाका भी नष्ट होना नैतिक अधोगतिका बड़ा स्पष्ट लक्षण है।

अब किसी ग़रीबसे ग़रीब हिन्दूके झोपडेकी ओर दृष्टि डालिये। यहाँ आप पायेंगे कि पत्नी अपने कार्य मन लगा कर कर रही है, पति अपने कार्य (पुरानी ही रीतिसे क्यों न हो परन्तु) मन लगा कर कर रहा है। जो कुछ प्राप्ति होती है उसीसे वे अपनी गृहस्थी चलाते हैं और सुख और शान्तिसे रहते हैं। सामान्यतः यही मानना पड़ता है कि एक दूसरेका परस्पर यथेष्ट प्रेम है और अपनेको वे इस जन्मके लिए परस्परसे बँधे समझते हैं। जिन पाश्चात्योंने हमारे घरोंकी वास्तविक दशा देखी है उन्हें यह स्वीकार करना पड़ा है कि उनके ऐश्वर्यपूर्ण प्रासादोंकी अपेक्षा हमारे यहाँके झोपड़ोंमे अधिक सुख और शान्ति है। यह है अविभाज्य पति-पत्नी सम्बन्धकी कल्पनाका परिणाम। यदि कोई कहे कि सिद्धान्तमें नहीं तो कमसे कम व्यवहारमें पत्नीकी दशा गुलामीसे किसी क़दर अच्छी नहीं है, तो यह बात बहुत कुछ झूठ है। ऐसा देख पड़नेके कारण ये हैं कि हमारी स्त्रियाँ सभा-समितियोंमे भाग नहीं लेती, उन्हें स्वतन्त्रतापूर्वक चाहे जिससे मिलनेकी स्वाधीनता नहीं, उन्हें बहुत सा समय घरके अन्धकारमे ही बिताना पड़ता है, उन्हें प्रायः शिक्षासे लाभ उठानेका अवसर नहीं दिया जाता, सब जगह पुरुषसत्ताका ही साम्राज्य देख पड़ता है। इन आरोपोंमेंसे कुछ तो अंशतः अवश्य सत्य है। उन्हें उचित शिक्षा नहीं मिलती, कुछ

लोगोंमें पर्देकी प्रथाने उन्हें भौतिक आलोकसे भी वंचित करनेका प्रयत्न किया है, कहीं कहीं वे आपसमें भी नहीं मिलने जुलने पातीं। परन्तु यह भी स्मरण रहे कि घरके भीतर उनकी सत्ता पुरुषोंसे बहुत अधिक है। ऐसा जान पड़ता है (और ऐसा कहनेके मौके समाजमें आया ही करते हैं) कि घरमें पुरुष स्त्रीका गुलाम है। घरपर स्त्री पुरुषसे नाकों चने चबवा सकती है। पुरुषको अपनी सत्ताका गर्व करना वृथा है। कहावत है कि संसारका राज्य तुम चला सकते हो, परंतु घरका नहीं। यहाँ स्त्रीकी सत्ता अबाधित है और पुरुषको स्त्रीका कहा चुपचाप मानना पड़ता है। वास्तवमें कौन किसका गुलाम है, यह निश्चित करना अशक्य है। गुलामीकी कल्पना केवल भ्रममूलक है। पाश्चात्य लोग समझ बैठे हैं कि सभा समितियोंमें भाग लेना, स्वच्छन्दतापूर्वक समाजमें घूमना, पुरुषों जैसी ही शिक्षा पाना समाधिकारके सूत हैं। परन्तु यह केवल भ्रम है। भौतिक वस्तुओंकी उत्पत्ति या अन्य कोई काम करके जीवनके लिए अर्थ कमाना, समाजमें शान्ति और सुख स्थापित करना, समाजका शासन करना, उसकी रक्षा करना और इन कार्योंके लिए दूसरे आनुषंगिक कार्य करना जितने महत्वका है, उतने ही महत्वके कार्य बच्चोंका पालन-पोषण, लाई आमदनीसे काटकसरके साथ गृहस्थी चलाना, पुरुष और बाल-बच्चोंको भोजन देना, बाल-बच्चोंको समाजकी तथा घरकी रीति-भाँति सिखाना और इस प्रकार उन्हें समाज-योग्य बनाना आदि हैं। समाज या व्यक्ति किसी भी दृष्टिसे देखा जाय, हिन्दूके घरमें स्त्रीके कार्य पुरुषके कार्योंसे किसी प्रकार हीन दर्जेके नहीं कहे जा सकते। यदि तुलना ही की जाय तो यही कहना होगा कि दोनों प्रकारके कार्य व्यक्ति और

समाज दोनोंके जीवनके लिए आवश्यक हैं और इसलिए समान महत्वके है। स्त्रियोंके कार्योंको हम हीन नहीं कह सकते। ऐसा कहनेवाले केवल भ्रममें पड़े हैं। वे समाज और व्यक्तिकी भलाईके परस्पर सम्बन्धको न जाननेसे ऐसा कहा करते हैं। उन कार्यों का महत्व घटानेसे, उन्हें हीन समझनेसे, समाज और घरमें अनेक बुराइयाँ घुसती हैं। यूरोपीयोंके गार्हस्थ जीवनका संक्षिप्त वर्णन करते समय हम उनका उल्लेख कर ही चुके हैं। इससे यह मतलव न निकालना चाहिये कि पति-पत्नी सम्बन्धकी हमारी व्यवस्थामें किसी प्रकारके सुधारकी आवश्यकता नहीं है। अपने समाजकी कुछ बुराइयोंको हम स्वीकृत कर चुके हैं, और वहाँपर सुधारकी आवश्यकता भी हम जान चुके है। स्त्रीकी दशामे थोड़ा वहुत सुधार करना नितान्त आवश्यक है। पहले तो परिस्थिति वदल जानेसे ही इस व्यवस्थामे छोटे मोटे परिवर्तन करना आवश्यक है। फिर दूसरा कारण यह है कि समाजकी अधोगतिके साथ साथ पति-पत्नी-सम्बन्धका विचार और आचार भी मूल विचार और आचारसे कुछ भिन्न हो गया हैं। कुछ नयी वातोंके समावेशकी आवश्यकता है तो कुछ पुरानी वातोंको अच्छी तरह समझ कर समाजमे उनका प्रचार करानेकी आवश्यकता है। तथापि यह मानना चाहिये कि स्त्री-पुरुष-सम्बन्धकी और उनके कर्तव्योंकी मूल कल्पनामे वहुत अधिक परिवर्तन करनेकी आवश्यकता न होगी।

एक वातका विचार करना आवश्यक है। जव अकाल-मृत्युका डर कम था, वालविवाहकी प्रथा न थी, वालविधवाएँ न होती थी, पति-पत्नीके सम्बन्धकी कल्पना अत्यन्त उच्च थी, सारे समाजमें कर्तव्यपरायणता मूर्तिमान् विराजती थी और

एकत्र-कुटुम्ब-पद्धतिकी कल्पना थी, उस समय स्त्रीके जायदादके अधिकार पुरुषके बराबर न थे। इसमें कोई आश्चर्य नहीं। उस व्यवस्था और स्थितिमें स्त्रियों और उनके बाल-बच्चोंको भूखों मरनेकी पारी क्वचित् ही आती थी। इसलिए स्त्रियोंको जायदादके स्वतन्त्र अधिकारकी आवश्यकता न थी। इसका यह अर्थ नहीं कि स्त्रीको जायदाद-सम्बन्धी अधिकार बिलकुल न थे। अधोगतिके कालमें पुरुषोंने उनके अधिकारोंको छीन लिया था। इस नये राज्य-शासनमें भी कुछ कालतक प्रचलित प्रथाकी चलती रही, परन्तु ज्यों ज्यों पुराने धर्म-ग्रन्थोंका अभ्यास और विवेचन बढ़ता जाता है, त्यों त्यों स्त्रियोंके कुछ अधिकारोंकी कल्पना दृढ़ होकर अमलमें आती जाती है और स्त्रीके जायदाद-सम्बन्धी कुछ अधिकार माने जाने लगे हैं। आज यह मानना पड़ता है कि स्त्रियाँ सङ्कट, कष्ट, क्लेश, दुराचार आदिसे बचें इसके लिए यह आवश्यक है कि उन्हें भी जायदादके कुछ अधिकार अवश्य दिये जायँ।

इस आवश्यकताका एक भारी कारण है। जिस समय एकत्र-कुटुम्ब-पद्धति थी, उस समय किसी मृतकी पत्नी तथा बच्चोंको अपने बलपर खड़े होनेकी आवश्यकता न थी। परन्तु अब तो यह पद्धति नष्टप्राय हो गयी है। और इस कारण स्त्रीकी स्वतन्त्र रक्षाके साधन निर्मित करनेकी आवश्यकता है। एकत्र-कुटुम्ब-पद्धतिके अनेक लाभ थे। इस पद्धतिमें शासनकी बागडोर एकके हाथमें रहती थी। सारा द्रव्य एक निधिमें जमा होता था, सारे कार्य सब कुटुम्बके हितकी दृष्टिसे किये जाते थे, सबके कार्यों और विचारोंपर वृद्धोंका तथा परस्परका नियन्त्रण रहता था; इन कारणोंसे कुटुम्बमें सदैव सद्भाव बना रहता था, प्रेम, आदर-सत्कार आदिसे सब लोग परस्पर

वर्ताव किया करते थे, और इस तरह शान्ति, सुख और समृद्धिका अनुभव प्रत्येक कुटुम्बको प्राप्त हो सकता था। परन्तु आज-कलके व्यक्ति-स्वातन्त्र्यने तथा नयी परिस्थितिने उन सब बातोंको नष्ट कर दिया है। हमारा यह कहना नहीं कि एकत्र-कुटुम्बपद्धतिसे हानि हो ही नहीं सकती। अधोगतिके कालमे कई घरोंमें आलसी जीव पैदा हो गये थे और वे अपना पूरा भार भाइयों अथवा वृद्धोंपर डाल कर अपना काल विताया करते थे। यह बुराई आज बहुत कम हो गयी है क्योंकि प्रत्येकको आज अपने पैरोंपर खड़ा होना पड़ता है। हमारा यह भी कहना नहीं है कि अनिश्चित काल तक एकत्र रहना एक कुटुम्बके लोगोंको शक्य है। माता-पिताके रहनेतक यदि भाई भाई शान्ति, प्रेम, और आदर-सत्कारसे एकत्र रह सकें तो समझना चाहिए कि एकत्र-कुटुम्ब-पद्धतिकी कल्पना समाजमें प्रचलित है। माता-पिताका जीवन-काल अथवा सब भाई समझदार होनेका काल ही इस पद्धतिकी स्वाभाविक सीमा है। इससे अधिककी आशा करना मनुष्य-स्वभावके विरुद्ध है। परन्तु आज इस सीमाका भी पालन कई कारणोंसे नहीं होता। जीवन-सङ्ग्राम दिनों दिन कठिन होता जाता है, इस कारण अधिकाधिक द्रव्यके लिए मार्ग ढूँढ़ने पढ़ते हैं, उसके लिए आवागमनके साधन भी हो गये है, पाश्चात्य भौतिकताका परिणाम हमपर हो गया है, हमलोग अब बहुत स्वार्थी हो गये हैं, भाई बन्धोंकी तो क्या, माता-पिताकी भी परवाह नहीं करते, बुढ़ापेमें उनकी भी ख़बर नहीं लेते, आदर-सत्कार, प्रेम आदि भावनाएँ काफ़ूर हो गयी हैं, अपने अपने भौतिक सुखमें हर एक आदमी खूब मशगूल हो गया है, और इस तरह एकत्र-कुटुम्ब-पद्धतिके

परिपोषक नैतिक गुण सारे नष्ट हो गये हैं। नयी परिस्थिति और कल्पनाओंने हमारी नैतिक अधोगति अवश्य की है। अब यह आशा भी नही की जा सकती कि उस प्राचीन पद्धतिका पुनरुद्धार हो सकेगा। परिस्थिति ही उसके विरुद्ध है। तथापि आज भी भाई भाई इतना कर सकते हैं कि दूर दूर रहने पर भी अपनेको परिवारके अङ्ग समझें, आवश्यकतानुसार और शक्त्यनुसार परस्परकी सहायता करें, प्रेम-भाव और आदर-सत्कार बनाये रखें, और माता-पिताके जीवन पर्यंत तो भी खुल्लमखुल्ला अलग न हों। इससे कुछ नैतिक कल्पनाएँ बनी रहेंगी, कुछ नैतिक आचरण परस्परके प्रति देख पड़ेगा, और इस प्रकार समाजके व्यक्तियोंकी कुछ अधोगति रुकेगी। तथापि यह स्पष्ट है कि इस अवस्थामें स्त्रियोंको जायदादके स्वतन्त्र अधिकार रहना आवश्यक है।

व्यक्ति-स्वातंत्र्यकी नयी कल्पनाओंने हमारे समाजको एक हानि और पहुँचायी है। पहले प्रत्येक व्यक्तिको यह ध्यान रहता था कि मै समाजका अङ्ग हूँ, समाजके प्रति अपने समस्त कार्यों और विचारोंके लिए जिम्मेदार हूँ, मेरे और समाजके हितका अन्योऽन्य सम्बन्ध है, इसलिए समाजके व्यक्तियोंके आचरणोंको सुधारना मेरा काम है, इत्यादि इत्यादि। परन्तु आज ये कल्पनाएँ रह नही गयी। कोई कोई तो अज्ञान या मूर्खता अथवा मनोविकारोंके कारण खुल्लमखुल्ला कह बैठते हैं कि 'हमें समाजसे करना ही क्या है? हमें समाज क्या देता है? हम समाजकी क्यों परवाह करें? समाज हमारे कार्योंमें बाधक होनेवाला कौन है?' उस प्रकार वे आचरण भी किया करते है। इस तरह समाजकी अधोगति हो रही है। उन्हें यह समझनेकी आवश्यकता है कि हमारा और समाजका अवि-

च्छिन्न सम्बन्ध है, समाजके विना हम कहींके न रहेंगे, समाजकी उन्नति होनेसे ही हमारी उन्नति होगी, समाजकी अधोगतिसे हमारी भी अधोगति होगी, समाजका हम पर अधिकार है, समाजपर और उसके व्यक्तियोंपर हमारा भी अधिकार है, हम सब परस्परके तथा अपने बालबच्चोंके आचरणके लिए परस्परके प्रति ज़िम्मेदार हैं। आज-कल व्यक्तिस्वातन्त्र्यका तो नहीं, स्वच्छन्दताका राज्य अवश्यमेव चारों ओर फैल रहा है।

इसीके साथ नयी परिस्थिति तथा विचारोंके कारण हमारी एक और कल्पना नष्ट हो रही है। धर्म हमारे कार्यों और विचारोंकी नीव था। परन्तु आज उसके विचारात्मक और आचारात्मक बन्धन ढीले हो रहे हैं। हमारे सारे कार्य ब्रह्मार्पण अथवा कृष्णार्पण किये जातेथे, 'निर्ममत्व' हमारे कार्योंका भाव था, और इस तरह अहङ्कारसे हमें दूर रखनेका प्रयत्न किया जाता था। कई कार्योंमें धार्मिक विचार भर दिये गये थे, इस कारण हम उन्हें करनेसे टालमटोल न करते थे। हमारा यह कहना नहीं कि पुरानी सब रीतियाँ और प्रथाएँ ठीक थीं या आज आवश्यक हैं। समाज परिवर्तनशील है। उसमें नित्य नयी बातें घुसती रहती हैं। पुरानी बातें अनुपयोगी हो जाती हैं, उनका असली मतलब हम भूल जाते हैं या उनका स्वरूप बदल जाता है—उनका ठाठ तो बना रहता है परन्तु प्राण निकल जाता है। जो रीतियाँ या प्रथाएँ अनावश्यक हैं उन्हें दूर करना होगा, जिनका मतलब हम भूल गये उनका मतलब समझ लेना होगा, जो आवश्यक है परन्तु जिनका स्वरूप बदल गया है, उन्हें उनका मूलस्वरूप देना होगा। परन्तु यह बात बनी ही रहेगी कि हम अपने सारे कार्य उच्च भावोंसे

प्रेरित होकर करे। परमेश्वर अथवा धर्मकी कल्पना साधारण जनसमाजके लिए नैतिक कल्पनाओं और आचारको पोषण करनेवाली है। कुछ लोग भले ही कहें कि परमेश्वरकी अथवा धर्मकी कल्पनाका आश्रय लेना दुर्बलताका चिह्न है। होगा! परन्तु सारे लोग आजतक नैतिक दृष्टिसे कहीं भी सबल नहीं हुए। नितान्त प्राचीन कालसे मनुष्यने समाज-धारण तथा निजी उन्नतिके लिए परमेश्वर और धर्मकी कल्पनाका कम अधिक सहारा अवश्य लिया है और आज भी लोग ले रहे हैं। जब लोगोंमें इतना नैतिक बल उत्पन्न हो जायगा कि इस कल्पनाकी आवश्यकता न रहेगी तबकी बात अलग है। जब तक यह बल सारे लोगोंमें उत्पन्न होता नहीं, कमसे कम तब तक इस कल्पनाकी आवश्यकता व्यक्ति और समाज दोनोंको बनी रहेगी। मानवीय उन्नतिके लिए उसका उपयोग करना सब समझदार लोगोंका कर्तव्य है।

प्रत्येक समाजमें अनेक व्यवस्थाएँ होती है। हिन्दूसमाजमें भी थी और है। उन सबका विवेचन यहाँ सम्भव नही। यहाँ केवल बहुत स्थूल विवेचन हो सका । हम देख चुके हैं कि श्रमविभाग-मूलक जाति-बन्धनकी आवश्यकता किसी समय थी। परन्तु अब उसका स्वरूप विकृत हो गया है और उसके परिवर्तनकी आज नितान्त आवश्यकता है। वर्णाश्रमव्यवस्था अनेक बुराइयोंको रोकती रही और अब भी उसका समाजमें प्रवेश होनेसे समाज तथा व्यक्ति को बुराइयोंसे रोक कर नैतिक उन्नतिकी ओर उन्हें अग्रसर कर सकती है। पति-पत्नी-सम्बन्धकी मूल कल्पना नैतिक उन्नतिके लिए परिपोषक है। हाँ, उसमें कुछ छोटे मोटे परिवर्तन आजकी दशामें आवश्यक हैं। विशेषकर, जायदाद-

सम्बन्धी कुछ अधिकार स्त्रियोंको देनेकी आवश्यकता आज ज़रूर है। एकत्र-कुटुम्ब-पद्धतिसे अनेक लाभ रहे, परन्तु अब उसका पुनः स्थापन हो नहीं सकता, तथापि कुछ अंशमें अब भी उसे बनाये रख सकते हैं। समाज और व्यक्तिके परस्पर सम्बन्धकी कल्पना लोगोंको सिखलाना आवश्यक है। समाज और व्यक्तिके कार्योंको यथासम्भव धर्ममूलक बनानेसे सर्व-साधारणको नैतिक उन्नतिमें सहायता मिलती है। इस प्रकार व्यक्ति और समाजके उद्देशों और कार्योंका सामञ्जस्य किया जा सकता है, और मनुष्य-जीवनके उच्चतम उद्देशोंकी सिद्धि-का मार्ग खुला रहनेसे सहायता मिल सकती है। हिन्दुओंकी सामाजिक व्यवस्थामें यह विशेषता भरपूर थी, जो अन्यत्र बहुत कम देख पड़ी और देख पड़ती है।

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका।

ह